TAGORE INTERNATIONAL LITERATURE & ARTS FESTIVAL
विश्व रंग
BHOPAL (INDIA)

पंजीयन क्रमांक MPHIN 37775

वनमाली कथा

वर्ष-2, अंक-14, मार्च, 2023

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

www.cvrump.ac.in | Follow us On :

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Madhya Pradesh, Khandwa AN AISECT GROUP UNIVERSITY

Recognized by : UGC Approved by : M.P. Govt.

ACCELERATING
With changing times.

Unlimited access to eLearning materials with Learning Management System (LMS)

- 10,000+ Student registered
- 500+ Faculties Conducting Online Classes
- 4500+ Classes Conducted

Reach the heights of success

Programmes Offered

Arts | Paramedical | Science | Agriculture | Commerce
Management | Computer Science & Information Technology
Education | Bachelor of Vocational (B.Voc)
Master Vocational Studies (M.Voc)

Integrated future-ready courses in association with

AISECT Future Skills ACADEMY | coursera education for everyone | Red Hat | Micro Focus Software University

Prominent Features

- Best Infrastructure
- Scholarship On Merit Basis
- Features Like Online teaching, LCD Projectors and E-Learning
- Effective placement and training support
- Optional Skills Course
- International academic research and cultural partnership
- Quality Education & Meaningful research

Our Top Recruiters

Reliance Infocomm | 3i Infotech | AIS | Hexaware Technologies | AIICB | IBM | ICICI | ORACLE | ASTHA | airtel | Patn | L&T Infotech | Satyam | BSNL Connecting India | HCL

ADMISSION OPEN 7000456427, 9907037693, 07320-247700/01

SCAN TO VISIT THE WEBSITE

For enquiries & other information, contact us at:

University Campus: Village Balkhadsura, Post - Chhaigaon Makhan, Khandwa, Madhya Pradesh, 450771 **Email:** admission@cvrump.ac.in

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका
वर्ष-2, अंक-14, मार्च, 2023

स्वामी-प्रकाशक-मुद्रक
डॉ. सिद्धार्थ चतुर्वेदी

सम्पादकीय सम्पर्क
वनमाली कथा
वनमाली भवन
ई-7/22, एसबीआई, अरेरा कॉलोनी
भोपाल-462016 (म.प्र.)
फोन : 91-755-4851056
मो. 09875370979 (सम्पादन)
09893100979 / 09826493844 (प्रसार)
ईमेल : vanmali@aisect.org

मूल्य : 50 रुपये
वार्षिक : 500 रुपये
(रजिस्टर्ड डाक शुल्क समेत 740 रुपये)
त्रैवार्षिक : 1200 रुपये
(रजिस्टर्ड डाक शुल्क समेत 1900 रुपये)

Online Transaction
Benificary Name : **VANMALI**,
State Bank of India, Mahavir Nagar Branch, Bhopal.
Bank A/c 40865384472, IFSC Code SBIN0003867
ध्यान रहे, शुल्क जमा करने के बाद भुगतान प्रपत्रक को 9893100979 पर जरूर ह्वाट्सऐप करें।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं/लेखों/विचारों का उत्तरदायित्व सम्पादक का होगा। वनमाली कथा से सम्बन्धित सभी विवादास्पद मामले केवल भोपाल न्यायालय के अधीन होंगे।

स्वामी-प्रकाशक-मुद्रक : डॉ. सिद्धार्थ चतुर्वेदी द्वारा आईसेक्ट लिमिटेड (आईसेक्ट पब्लिकेशन), प्लॉट नं. 10, सेक्टर-सी, इंडस्ट्रियल एरिया, बगरोदा, जिला-भोपाल से मुद्रित एवं वनमाली भवन, ई-7/22, एसबीआई, अरेरा कॉलोनी, जिला-भोपाल-462016 से प्रकाशित। **सम्पादक :** कुणाल सिंह

संरक्षक
संतोष चौबे

प्रधान सम्पादक
मुकेश वर्मा

सम्पादक
कुणाल सिंह

सहायक सम्पादक : ज्योति रघुवंशी
प्रबन्धक : महीप निगम
शब्द संयोजन : रवि चौहान, मुकेश रघुवंशी

आईसेक्ट पब्लिकेशन

विज्ञान पर एकाग्र कहानियाँ

विज्ञान कथाकोश

(6 खंडों में)

प्रधान संपादक : **संतोष चौबे** संपादक : **शुकदेव प्रसाद**

'विश्वरंग' के प्रारम्भिक संकल्पों में से एक था हिन्दी में विज्ञान कथा लेखन को प्रोत्साहन देना तथा अब तक हुए विज्ञान कथा लेखन, कथा अनुवादों को सुचिन्तित रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना। हमें बहुत प्रसन्नता है कि 'कथा देश', 'कथा मध्यप्रदेश' एवं 'कथा भोपाल' के बाद अब हम छह खंडों में इस 'विज्ञान कथा कोश' को हिन्दी में प्रस्तुत कर पा रहे हैं। वास्तव में तो यक एक वैश्विक विज्ञान कथा कोश है क्योंकि इसमें विश्व के लगीाग सभी बड़े विज्ञान कथा लेखकों की कहानियाँ सम्मिलित की गई हैं और भारतीय भाषाओं में हुए या हो रहे विज्ञान कथा लेखन को भी रेखांकित किया गया है। छह खंडों में लगभग 2000 पृष्ठों में छपी यह विज्ञान कथाएँ पाठक के लिए एक ऐसा अद्‌भुत संसार रचती हैं जिसमें वह अपना भूत और भविष्य दोनों देख सकता है, उसकी कल्पना का क्षेत्र विस्तृत हो सकता है और विज्ञान कथा लेखन के कुछ सूत्र भी उसके हाथ लग सकते हैं। यह भारतीय भाषाओं में हो रहे विज्ञान कथा लेखन का एक सिंहावलोकन तो है ही, यह हिन्दी के क्षेत्र में विज्ञान कथा संग्रह प्रस्तुत करने का लगभग पहला प्रयास है।

– **संतोष चौबे**

मूल्य : 500 रु. (प्रत्येक खंड), सम्पूर्ण सेट के क्रय पर विशेष छूट देय

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका
वर्ष-2, अंक-14, मार्च, 2023

तरतीब

दस्तखत / 5
इनबॉक्स / 7
देशकाल / 105

ग्रीनरूम

अशोक वाजपेयी से पूनम अरोड़ा की बातचीत / 60

किरदार

सूरज प्रकाश : फेंस के इधर और उधर अब फेंस नहीं, अदृश्य दीवार है... / 12

दस कविताएँ

पंकज चतुर्वेदी की दस कविताएँ / 14

कहानी

अवधेश प्रीत : कलंक-मुक्ति / 18
जयशंकर : बुढ़ापा / 30
ज्ञानप्रकाश विवेक : बन्धक / 34
सुषमा मुनीन्द्र : अप्रत्याशित / 43
महावीर राजी : बकुल बाउरी की हिचक-कथा / 53
विनोद शाही : योगनिद्रा / 68
चुन्नीलाल माड़िया : सपेरा (कथाभारत– गुजराती) / 82

वस्तुपरक

विनोद तिवारी : मेरी गरदन पर अपना ही जाना-पहचाना चाकू / 94

आसपास

श्रीविलास सिंह : अनुवाद– परिदृश्य और चुनौतियाँ / 101

गुडबुक

अवधेश मिश्र : समय, समाज व साहित्यिकों का अनूठा वृत्तान्त / 87
(अक्स : अखिलेश)

अरुण होता : हिन्दी आलोचना के इतिहास की अद्यतन पुस्तक / 89
(हिन्दी आलोचना का अलोचनात्मक इतिहास : डॉ. अमरनाथ)

अन्ततः

मुकेश वर्मा : सत्कथा कही नहीं जाती / 110

आवरण

आईसेक्ट कला प्रभाग

भीतरी रेखांकन

एस. विनीता

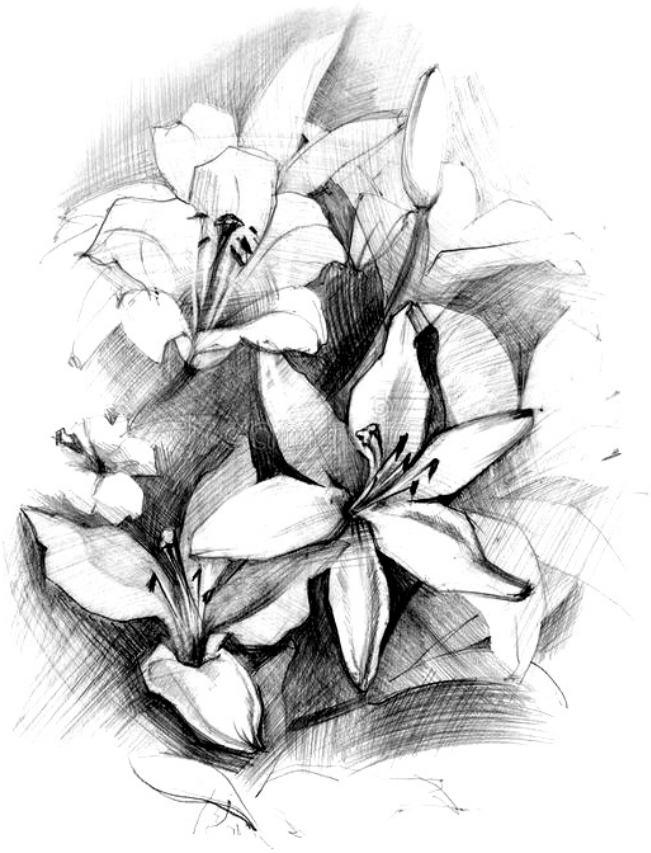

दस्तखत

यों तो अब वर्ष-भर, देश के कोने-कोने में साहित्य-आयोजनों की बहार है, लेकिन इस दृष्टि से फरवरी का महीना कुछ अधिक ही व्यस्त रहा। वसन्त ऋतु को वैसे भी सृजन-सापेक्ष माने जाते रहने का रिवाज है। भोपाल में वर्षों तक साहित्य-संस्कृति का इकलौता केन्द्र रहा भारत भवन इसी महीने अपने स्थापना दिवस को सप्ताह-भर के साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन-रूप में मनाता आया है। इसी के समानान्तर प्रदेश की जलेस इकाई ने तीस से अधिक कविओं को कविता-पाठ के लिए आमन्त्रित किया। इधर खजुराहो में भी साहित्य व कला उत्सव मनाया गया। इसके अलावा रायपुर में साहित्य अकादेमी के सौजन्य से इसी माह दो बड़े आयोजन सम्भव हुए। फिर कलिंग लिटरेचर फेस्टिवल ओड़िसा राज्य की राजधानी भुवनेश्वर में सम्पन्न हुआ। इलाहाबाद में वरिष्ठ कथाकार-सम्पादक रवीन्द्र कालिया की स्मृति में एक बड़े साहित्यिक आयोजन की शृंखला की शुरुआत की गयी। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने जयपुर में 'कथा-कहन' का आयोजन भी इसी माह किया। साथ-साथ कलकत्ता पुस्तक मेला और कलकत्ते में ही 'साहित्य आजतक' के आयोजन ने भी लोगों का ध्यानाकर्षण किया। चंडीगढ़ में राजकमल प्रकाशन का किताब-उत्सव अभी हाल में सम्पन्न हुआ। इन सबके अलावा दिल्ली में कोरोना महामारी के व्यवधान के अनन्तर पहली बार विश्व पुस्तक मेले की शुरुआत भी इसी माह हुई।

'वनमाली कथा' परिवार के लिए भी फरवरी का महीना खास है। हमारे पाठकों को याद होगा कि फरवरी 2022 में ही पत्रिका का प्रवेशांक आया था। पत्रिका के संरक्षक संतोष चौबे फरवरी में ही पत्रिका का वार्षिक आयोजन करना चाहते थे। हमारे लिए इससे बड़ी बात क्या होगी कि इस आयोजन को स्मरणीय बनाने के उद्देश्य से हमने जिन लेखकों को आमन्त्रित करना चाहा, इस माह विविध आयोजनों में पहले से अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर चुकने के बावजूद वे यहाँ सहर्ष आये। वनमाली कथा सम्मान से सम्मानित आदरणीय ममता कालिया का स्नेह हम पर सदा से रहा है। उन्हें एक दिन बाद ही रवीन्द्र कालिया स्मृति आयोजन में इलाहाबाद होना था, इसके बावजूद वे यहाँ आईं। शिवमूर्ति जी पहली बार हमारे किसी आयोजन में शामिल हुए और पूरे भोपाल को अपनी अदाओं का कायल कर गये। विनोद तिवारी हमारी पत्रिका-परिवार का हिस्सा हैं। वे हमारे नियमित स्तम्भकार हैं। अल्पना मिश्र भी जिस आत्मीयता से शरीक हुईं, वह हमारे लिए बड़ी बात है। इससे पेश्तर वे 'वनमाली कथा प्रसंग' के लिए भी अपना सान्निध्य प्रदान कर चुकी थीं। दिव्यप्रकाश दुबे हमारे पुराने अजीज हैं, अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद वे हमारे बीच मुसलसल बने रहे।

कार्यक्रम हालाँकि 'वनमाली कथा' के वार्षिक आयोजन के रूप में मनाया गया, लेकिन संतोष जी का विचार था कि इसे युवा लेखन पर केन्द्रित किया जाए। नवम्बर-दिसम्बर संयुक्तांक को हमने 'नवलेखन विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया था। पाठकों की भारी माँग पर इसे दुबारा प्रकाशित करना पड़ा। किसी भी पत्रिका के किसी एक अंक की, बाद उसके दो-तीन अंकों के प्रकाशन के, दुबारा आवृत्ति करनी पड़े, यह अपने-आप में उस मिथ को झुठलाने वाला है कि हिन्दी के पाठक नहीं। फिर यह एकदम नये रचनाकारों का अंक था, सो इसके दूसरे संस्करण की महत्ता ही कुछ और है। सम्भवतः संतोष जी ने इसी को लक्ष्य करते हुए इस आयोजन को 'वनमाली नवलेखन : नयी सदी की नयी रचनाशीलता' पर केन्द्रित किया। अनुराग अनन्त, सबाहत आफरीन, कैफी हाशमी और मुदित श्रीवास्तव की कहानियों को भोपाल के श्रोताओं का भरपूर प्यार मिला। शाम के सत्र में वरिष्ठ रचनाकारों– ममता कालिया, संतोष चौबे, शिवमूर्ति, मुकेश वर्मा और अल्पना मिश्र की कहानियों ने जो समाँ बाँधा, उसने नये लेखकों को उनकी कथा-परम्परा से जोड़ा। वनमाली जी की कहानी 'आदमी और कुत्ता' की टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा नाट्य-प्रस्तुति और हिमांशु वाजपेयी व प्रज्ञा शर्मा की 'दास्तानगोई' ने भोपाल के लिए 21-22 फरवरी की शामों को यादगार बना दिया।

'वनमाली कथा' का यह 14वाँ अंक है। कहानियाँ इस बार अवधेश प्रीत, जयशंकर, ज्ञानप्रकाश विवेक, विनोद शाही, सुषमा मुनीन्द्र, महावीर राजी और गुजराती के चुन्नीलाल माड़िया की। 'दस कविताएँ' पंकज चतुर्वेदी की। 'किरदार' में इस बार सूरज प्रकाश ने ज्ञानरंजन की कहानी 'फेंस के इधर और उधर' को आज के आलोक में देखने का यत्न किया है। 'गुडबुक' के अन्तर्गत अवधेश मिश्र और अरुण होता ने क्रमशः अखिलेश और डॉ. अमरनाथ की पुस्तकों पर विचार किया है। 'वस्तुपरक' के अन्तर्गत विनोद तिवारी इस बार प्लॉट की संरचना पर विचार कर रहे हैं। 'आसपास' में वरिष्ठ अनुवादक श्रीविलास सिंह ने अनुवाद के मौजूदा परिदृश्य पर अपने विचार रखे हैं।

पिछले अंक से हमने वरिष्ठ रचनाकारों के साक्षात्कार का एक नया स्तम्भ 'ग्रीनरूम' शुरू किया था। इसके अन्तर्गत प्रियंवद से बातचीत पर पाठकों की सकारात्मक प्रतिक्रिया मिल रही है। इस अंक में वरिष्ठ कवि, आलोचक, सम्पादक अशोक वाजपेयी से युवा कवि-कथाकार पूनम अरोड़ा की बातचीत को प्रकाशित किया जा रहा है। 'देशकाल' में पत्रिका की सहायक सम्पादक ज्योति रघुवंशी ने हालिया आयोजनों की रपट पेश की है। 'अन्ततः' के अन्तर्गत पत्रिका के प्रधान सम्पादक मुकेश वर्मा अपने नियमित अन्दाजे-बयाँ के साथ उपस्थित हैं।

(कुणाल सिंह)

इनबॉक्स

कविताएँ छूट गयीं

'वनमाली नवलेखन अंक' की काफी चर्चा हुई, जिसका वह वास्तविक हकदार भी था। कई वर्षों के बाद किसी पत्रिका का ऐसा नवलेखन अंक देखा। कहानियाँ एक पर एक, अपनी विषय-वस्तु के निर्वाह में इतनी परिपक्व कि सहसा यकीन नहीं होता कि ये कहानी के नये धुरन्धर हैं। यह अकारण नहीं कि इस अंक की इतनी धूम मची। लेकिन इस सबसे यह हुआ कि इसी अंक में शामिल चन्द युवा कवियों की बेहतरीन कविताएँ चर्चा से छूट गयीं। 'वनमाली कथा' कहानी-केन्द्रित पत्रिका है, लेकिन इसमें कविताओं को बाइज्जत छापा जाता रहा है। नवलेखन अंक में भी एकदम नये कविओं– आदर्श भूषण, स्वाति शर्मा, मानस भारद्वाज, नेहा नरूका, पराग पावन, नेहल शाह, दीपा मिश्रा और रूपम मिश्रा की कविताएँ प्रकाशित की गयी हैं। कहानियों की वाहवाही में इन युवा कविओं की बेहतरीन कविताओं की ओर किसी का ध्यान गया ही नहीं। विशेषकर इनमें पराग पावन, आदर्श भूषण और स्वाति शर्मा की कविताओं को रेखांकित किया जाना चाहिए। जोर देकर कहा गया है कि 'वनमाली कथा' के इस नवलेखन अंक ने कहानी की नयी पौध खड़ी की है, लगभग उतना ही बल देकर यह भी कहा जाना चाहिए कि इस अंक के द्वारा हिन्दी कविता की नयी लकीर भी खिंच गयी है। ये भविष्य के कवि हैं।

– डॉ. एन.पी. सिंह, नयी दिल्ली

एक चौंक रह-रहकर कौंधती रही

'वनमाली नवलेखन अंक' में छपी कैफी हाशमी की कहानी 'शिया बटर'। इस कहानी की शुरुआत करने के बाद इसे छोड़ ही नहीं पायी। 'शिया बटर' को पढ़ते हुए एक चौंक रह-रहकर कौंधती है। बहुत लम्बे समय से इस तरह की कहानी नहीं पढ़ी है। इसका ट्रीटमेंट इतना अलहदा है कि आप मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। कहानी को इतने ब्रिलियेंट तरीके से उठाया जा सकता है, यह बहुत सीखने वाली बात है। मैं कोई समीक्षक नहीं हूँ जो कहानी की बहुत चीड़-फाड़ करूँ, मुझे बस इतना पता है कि 'शिया बटर' यथार्थ और रहस्यवाद का बहुत खूबसूरत मिश्रण है। विज्ञान विषय को आधार बनाकर एक काल्पनिक कहानी को इस तरह उठाना कि उसमें समाज में फैली विषमताएँ, दोहन शोषण और यहाँ तक कि एक प्रेम कहानी भी, इस तरह अपना स्थान सिलसिलेवार पाये कि कुछ भी ठूँसा हुआ न लगे, एक कहानीकार की बड़ी उपलब्धि है। कहानी में रह-रहकर ऐसी पंक्तियाँ भी आती हैं जिन पर आप अटक जाते हैं। मुझे इस तरह के सूक्ति वाक्य हमेशा से बहुत मोहित करते आये हैं और इस कहानी में तो इन सबके अलावा इतना कुछ है कि यह कहानी जहन में हमेशा के लिए रह गयी है। 'सपने कीमत चुकवाते हैं, पूरे हो पायें तब भी, पूरे न हो पायें तब भी!' कैफी हाशमी की ही लिखी इस सुन्दर पंक्ति के साथ, इस कहानी के लिए आपको बहुत बधाई।

– सुषमा गुप्ता, फरीदाबाद (हरियाणा)

जनवरी के लड्डू बाबू

'वनमाली कथा' पत्रिका के अंक-12, जनवरी 2023 में अल्पना मिश्र की कहानी 'लड्डू बाबू मरने वाले हैं' ने विशेष ध्यान खींचा। इस कहानी ने पाठकों को एक अलग परिवेश से रूबरू करवाया। कहानीकार ने विश्वविद्यालयी परिवेश को अपने दिलचस्प किस्सागोई और शिल्प के टटकेपन से कहानी को ऐसा पिरोया है जैसे किसी कलाकार ने अपनी कला से अपनी चित्रकारी को जिन्दा कर दिया हो। जहाँ एक तरफ इस कहानी में प्रेम के कोमल भावों की छौंक है, वहीं दूसरी तरफ विश्वविद्यालयी विसंगतियों को दिखाया गया है। कहानी लड्डू बाबू के मन में उमड़ रहे प्रेम भावों से शुरू होकर एक त्रासद विडम्बना के साथ खत्म होती है। लड्डू बाबू इस कहानी का मुख्य चरित्र हैं। वह एक लड़की को उसके घरवालों की रजामन्दी से बड़े शहर में पढ़ने आने के लिए मदद करते हैं। यहाँ तक कि लड़की को हॉस्टल न मिलने पर वह पीजी हॉस्टल का इन्तजाम करवाते हैं। इस कहानी की

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

शीघ्र प्रकाश्य

जयनन्दन

की कहानी

शुद्धिकरण

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

शुरुआत में एक पंक्ति है– कहीं-कहीं वापस जाने की सम्भावना बिल्कुल नहीं बची रहती। यह पूरी पंक्ति ही कहीं न कहीं लड्डू और लड़की के सम्बन्धों को बहुत गहराई से उजागर करती है, क्योंकि लड्डू जब लड़की के करीब आते हैं, तो उन्हें वह दूर कर देती है। लड़की लड्डू द्वारा की गयी मदद को तो सहर्ष स्वीकार करती है, लेकिन उसके प्रेम को स्वीकार नहीं कर पाती। आखिर लड़की प्रेम के मामले में इतनी कन्फ्यूज क्यों है? ऐसा इसलिए कि लड़की जब बड़े शहर में पढ़ने आती है तो वह अपने बारे में सोचना शुरू करती है। अब वह गाँव वाली लड़की नहीं है जिससे लड्डू बाबू प्रेम करते थे। यह विश्वविद्यालय में पढ़ने वाली और बड़े शहर की आबो-हवा में साँस लेने वाली लड़की है। इसके सपनों का दायरा अब बढ़ चुका है। जब हमारे सपनों का दायरा बढ़ने लगता है तो हमें बहुत सी चीजों से समझौता करना पड़ता है ताकि हम बिना रुकावट आगे बढ़ सकें। क्या ऐसा करना या सोचना गलत है? लड़की खुद को कहीं न कहीं भविष्योन्मुखी दिखाई देती है। इसलिए जब लड्डू बाबू मरने की बात करते हैं तो लड़की डाँटते हुए कहती है कि क्या बोलते रहते हो! तुम भी देख आओ कि पीएच.डी; का कुछ इस बार हो पायेगा? लड्डू को लगता है कि लड़की चालाक होती जा रही है। अब बात यह है कि यदि लड़की चालाक है तो इसमें बुराई क्या है? यहाँ चालाकी का मतलब कुछ और नहीं, बल्कि अपने जीवन के प्रति सचेत होना है। यह चालाकी आज के दौर की माँग है। आज के समय में कोई भी पढ़ी-लिखी लड़की आँख बन्द करके प्रेम नहीं करती है। वह बहुत धैर्य के साथ और सोच-समझकर किसी लड़के के प्रेम को स्वीकार करती है। वह यह भी देखती है कि लड़के के साथ उसका कैरियर कैसा होगा। यदि इस कहानी की लड़की यह सबकुछ सोच रही है या देख रही है तो इसमें गलत क्या है! शायद इसी कारण यदि लड़की ने 'लड़के को टालते रहना चुना था, तब तक, जब तक कि उसके मन में कुछ साफ न हो जाए।'

यह कहानी इस प्रेम-प्रसंग के साथ दूसरी ओर ऐसे परिवेश में दाखिल होती है जहाँ सिर्फ झूठ, फरेब, छल-कपट, धोखाधड़ी, जुगाड़, कुंठा, धूर्तता आदि का बोलबाला है। यह कहानी हँसी-ठिठोली के साथ उच्च शिक्षा की विसंगतियों पर तीखा प्रहार करती हुई नजर आती है। लड्डू बाबू अपने विभाग में चल रहे जुगाड़ से भली-भाँति परिचित हैं, इसलिए वे अपनी पढ़ाई-लिखाई से ध्यान हटाकर जुगाड़ की फिराक में लगे रहते हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि झूठ और धूर्तता उनका हथियार है और इसे जिस पर चलायेंगे, वह शिकार हो जाएगा। वे अपने पीएचडी एडमिशन के लिए शिक्षकों से एक के बाद एक झूठ बोलते हैं। हर सम्भव प्रयास करने के बाद जब लड्डू बाबू अपने को असहाय पाते हैं तो अन्त में वे अपने दाखिले की जुगत में नेता के पास पहुँचते हैं। इस तरह कहानी के अन्त में नेता जी द्वारा लड्डू बाबू के कन्धों पर अदरक की खेती की जिम्मेदारी डाल दी जाती है।

इन सबमें देखा जाए तो लड्डू बाबू की कोई गलती नहीं है। इसमें गलती है तो हमारी विश्वविद्यालयी व्यवस्था की, जिसमें अब काबिलियत की जगह सिर्फ जुगाड़ ही जुगाड़ है। इसलिए लड्डू जैसे न जाने कितने युवा अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर सिर्फ जुगाड़ में लगे रहते हैं। न जाने कितने छात्र लड्डू बाबू बनने को मजबूर हैं। लड्डू बाबू की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वे जिन्दा हैं, लेकिन मरे हुए। इस सन्दर्भ में पाश याद आते हैं– सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना। क्या सच में लड्डू बाबू का सपना मर जाएगा?

इस कहानी को पढ़कर ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि लेखिका अपने समय से छिटककर किसी दूसरे ललोक की बात कर रही है। इन्होंने यथार्थ को ज्यों का त्यों किस्सागोई के टटकेपन के साथ हमारे सामने ऐसा प्रस्तुत किया है कि यह कहानी कॉमिक अन्दाज लिये अन्त में एक भयावह

त्रासदी में तब्दील हो जाती है। इस कहानी की सफलता इस बात में है कि यह अन्त तक पाठकों के मन में कई तरह के सवाल छोड़ जाती है।

एक अच्छी कहानी के लिए अल्पना मिश्र को, वनमाली कथा को बहुत साधुवाद।

– कमरुजमा अंसारी, नयी दिल्ली

पंखुरी सिन्हा की कहानी में दाम्पत्य

'वनमाली कथा' का जनवरी अंक खोलते ही गीत चतुर्वेदी के मुख्तसर आलेख 'कविता की सृष्टि' पर निगाह ठहर गयी। यह इसराइली कवि डैन पगीस से मेरा पहला परिचय है, जो एक बार में हृदय में अंकित हो गया।

पंखुरी सिन्हा की कहानी 'अभी बस इतना ही' मेरे मन में कुछ प्रश्न खड़े कर गयी। पहली नजर में लग सकता है कि उन्होंने अपहरण विवाह के लिए अपना समर्थन बुना है, परन्तु तुरन्त ही यह सामने आता है कि इस प्रकार के विवाह में विवाहिता का भी अपना पक्ष, शंका और प्रेम है। फिर भी वर्तमान कथा-संसार में व्याप्त पुरुष-पात्रों की अपेक्षा कथा-नायक कहीं अधिक संवेदनशील है। उधर कथा-नायिका आधुनिक 'स्त्री-विमर्श' के विपरीत समर्पित है। क्या यह कोई अपराधबोध है या आपसी समझ और प्रेम का स्वाभाविक विकास है? क्या यह हाँकी हुई भेड़ के पुराने स्त्री-रूपक का नव-विकास है? यह कहानी दाम्पत्य सम्बन्धों में परिवारों के हस्तक्षेप को उचित प्रतिबिम्बित करती है।

इसके साथ ही इन्दिरा दाँगी की कहानी 'पापा जल रहे हैं' वर्तमान समय में वास्तविक आवश्यकताओं के समय परिवार के साथ खड़ा न होने को भली प्रकार चिह्नित करती है। विनीता चौबे की दोनों कहानियाँ छोटी परन्तु प्रभावकारी बन पड़ी हैं। उषाकिरण खान की 'उसी देहरी पर', जया जादवानी की 'तलाश' और अल्पना मिश्र की 'लड्डू बाबू मरने वाले हैं' ने यथेष्ट प्रभावित किया।

– ऐश्वर्यमोहन गहराना, नयी दिल्ली

जनवरी का स्त्री-विशेषांक

'वनमाली कथा' का जनवरी अंक, जैसा कि आपने 'दस्तखत' में बताया, अघोषित रूप से स्त्री-विशेषांक था। ठीक इससे पहले नवलेखन अंक की अपार चर्चा में यह अंक कुछ दब-सा गया, हालाँकि इसमें छपी दस कहानियाँ और दस कविताएँ किसी मायने में कमतर नहीं। विशेषकर पंखुरी सिन्हा, अल्पना मिश्र और उजला लोहिया की कहानियाँ स्मरणीय हैं। विनीता चौबे की दो छोटी कहानियाँ गागर में सागर की तरह, कम शब्दों में बड़ी बात समेटे हुए हैं। जया जादवानी ने अपनी कहानी में दार्शनिकता का पुट घोलते हुए विषय-वस्तु के साथ न्याय किया है। ममता सिंह ने यूक्रेन युद्ध को अपनी कहानी का कथ्य बनाया है। युद्ध की विभीषिका पर वैसे भी बहुत कम लिखा गया है। इन्दिरा दाँगी की कहानी एकाएक इस भरी-पूरी दुनिया में अकेली पड़ गयी स्त्री की मनोव्यथा को उकेरती है।

कविताओं में श्रुति कुशवाहा, विशाखा मुलमुले, हर्षा श्री और निवेदिता दिनकर अपेक्षाकृत नया नाम होने के बावजूद प्रभावित करती हैं। अर्चना लार्क और बाबुषा कोहली की कविताएँ भी पर्याप्त ध्यानाकर्षण करने में कामयाब हैं।

साधना अग्रवाल का लेखाजोखा शोधपरक रहा। अर्चना शर्मा मिश्र का आलेख 'भाषा में स्त्री की भागीदारी' अत्यन्त पठनीय और विषयवस्तु को नयी आँख से देखने वाला है। चन्द्रकान्ता ने अपने यात्रा-वृत्तान्त के जरिये यह दिखाने में कामयाबी हासिल की है कि चाहे भारत हो या अमरीका, एक भारतीय पैरेंट्स की मनोदशा क्या होती है जब वह अपनी ही सन्तान के द्वारा धीरे-धीरे अवांछित और अप्रासंगिक स्थिति में ढकेले जा चुके होते हैं। सूरज प्रकाश का स्तम्भ 'किरदार' हमेशा अपनी रोचकता बनाये रखता है।

– सीमा वसुधर, लखनऊ (उ.प्र.)

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

शीघ्र प्रकाश्य

आनन्द हर्षुल

की कहानी

विज्ञापन

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

नवलेखन अंक : रचनात्मक समृद्धि का विरल नमूना

'वनमाली कथा' के प्रकाशन के एक वर्ष पूरा होने पर आईसेक्ट पब्लिकेशन और पत्रिका की सम्पादकीय टीम को हार्दिक बधाई। साहित्य परिदृश्य में 'वनमाली कथा' ने अपनी जगह बनायी है, यह रेखांकित करते हुए मुझे खुशी है। कहानी विधा में काम करने वेः वाली वरिष्ठतम पीढ़ी से लेकर नयी पीढ़ी के रचनाकारों को एक मंच पर लाने का काम आप कर सके हैं। सफलतापूर्वक। यह काम रचनात्मक उपक्रम है। वर्ष-भर में कई अच्छी कहानियाँ पढ़ने को मिलीं। विभिन्न रंगों की। समग्रता में कहें तो सम्पादकीय विभाग की मिहनत और विषय-वैविध्य के प्रति उत्साह प्रशंसा के योग्य है।

'वनमाली कथा' के माध्यम से नवलेखन को सामने लाना महत्त्वपूर्ण कदम है। कहानी विधा की निरन्तरता में नये की तलाश पत्रिका का दायित्व भी होता है। नवम्बर-दिसम्बर-2022 का संयुक्तांक दो खंडों में युवा रचनाकारों को प्रस्तुत करता है। पाठक के रूप में मेरा ध्यान स्वाभाविक रूप से उन कथा-लेखकों की ओर पहले गया जिनकी पहली कहानी अंक में प्रकाशित हुई है। रचनाओं की विषय-वस्तु के स्तर पर ध्यातव्य है कि दोनों ही खंडों में स्त्री-जीवन की विडम्बनाओं की कहानियाँ हैं। इनमें **शहादत खान** को छोड़कर शेष लेखिकाओं की रचनाएँ हैं। आदिकाल से लेकर अभी तक स्त्री अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष के विभिन्न रूप हैं। पुरुष के अहम से टकराना और परिवार में समान व्यवहार को पाने का प्रयास हर वर्ग की औरत की नियति बना दी गयी है। पिछड़ेपन में लिप्त और आर्थिक तंगी से जूझते वर्ग की समस्याएँ अधिक जटिल हैं।

इस अंक में स्त्री के संघर्ष के इन सभी रूपों पर रचनाकारों ने कलम चलायी है। **शिल्पी झा** की कहानी 'काउंट योर ब्लेसिंग्स' में कथा की संरचना, डिटेल्स और भाषा के साथ दो स्त्री-पात्रों के जीवन के माध्यम से स्वतन्त्र व्यक्तित्व पाने की तलाश केन्द्र में है। नैरेटर शुमी और उसकी कॉलेज की सहपाठी मंजू सम्पन्न परिवार की पढ़ी-लिखी महिलाएँ जीवन की सारी सुविधाओं के बावजूद अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को पाने की कोशिश में हैं। अपने पति के स्वभाव के प्रच्छन्न अहम के दबाव से खिन्न शुमी अपनी सहेली मंजू के जीवन जीने के ढंग से प्रेरित होती है। भावुक किस्म का समाधान तो है किन्तु तलाश में ईमानदारी है। इसके बरक्स **शहादत खान** की कहानी 'आजादी के लिए' और **सबाहत आफरीन** की रचना 'मुझे मंजूर नहीं' स्त्री के संघर्ष को सामाजिक आधार देती है। आर्थिक विषमता और रूढ़िबद्धता औरत की स्वतन्त्रता में सबसे बड़ी बाधा है। वहाँ स्त्री का संघर्ष बहुत ज्यादा है।

बेजी जैसन की लम्बी कहानी 'धूप में नहीं कुम्हलाती लिली' आर्थिक संघर्ष करते हुए एक ईसाई परिवार की लड़की की प्रेमकथा है। लेखिका के परिचय में 'जन्म से ईसाई' शब्दों का प्रयोग एक संकेत की तरह लगा इस बात का कि हमारे समाज में किसी भी धर्म या जाति की जीवन-पद्धति उसके आर्थिक वर्ग से संचालित होती है। कमोबेश उसके जीवन-संघर्ष एक-जैसे होते हैं। अपने अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कहानी प्रेम की गहरी संवेदना से सिक्त हो जाती है। स्त्री-जीवन का एक पहलू यह भी है कि प्रेम और दाम्पत्य सम्बन्ध में पुरुष की मात्र अनुगामिनी बनकर भोग्या होकर रह जाती है। **पल्लवी पुंडीर** की कहानी 'अनादृता' की कथा-नायिका अपनी 'सम्पूर्णता' को 'किसी पुरुष को दान में नहीं दे सकती' का संकल्प लेकर अपनी अस्मिता को पाना चाहती है। अतः वह अपनी अलग राह तय करती है।

हर रचना पर टिप्पणी करना सम्भव नहीं है और न ही जरूरी है। अंक की कुछ कहानियों को रेखांकित करना चाहता हूँ। नये रचनाकार हमारे समाज के विभिन्न कोनों में झाँकने की कोशिश करते हैं या नहीं? इसका उत्तर यही है कि हिन्दी कहानी की यात्रा में हर पड़ाव की जिन्दगी को देखने-समझने की आकांक्षा कहानी लेखकों की हर पीढ़ी को रही है। यूँ भी हर पीढ़ी में प्रतिभा का आलोक होता ही है। 'सफेदपोश' **आशीष शुक्ला** की पहली कहानी है जो अपने कथ्य और कथा-तत्त्व का निर्वाह करते हुए जीवन-मूल्यों की ओर संकेत करते हैं। दो भाइयों के पारिवारिक सम्बन्धों की यह कहानी हमारे समाज के उस सत्य की ओर संकेत करती है कि हम उस स्थिति में पहुँच गये हैं जहाँ अपने सगे सम्बन्धों पर भी यकीन करना सम्भव नहीं रह गया है। कथा के पात्र नरोत्तम के इस कथन से कहानी खत्म होती है– ''सोचा था कि पढ़े-लिखे सभ्य लोगों का परिवार है हमारा...। यहाँ तो सब

चोर निकले!'' इस क्रम में **विकास वशिष्ठ** की कहानी 'तलाश' को रखना चाहूँगा। किसी भी कहानी में मानवीय सत्य के संकेत के अलावा पठनीयता का होना उसकी सफलता ही नहीं, सार्थकता भी होती है। मुम्बई की लाइफ लाइन लोकल ट्रेन की एक घटना कथ्य के रूप में कहानी के केन्द्र में है। व्यस्त जिन्दगी में मनुष्य को समझ पाना कितना कठिन होता है! यह कहानी हमें गहरी संवेदना तक ले जाती है।

वस्तुत: जीवन की सामान्य-सी घटनाओं में भी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के अंकुर होते हैं। असमानता, शोषण, क्रूरता और जनविरोधी राजनीति के छल-प्रपंच के प्रतिरोध में हमारा साहित्य साहस के साथ खड़ा होकर अपने दायित्व का निर्वाह करता है, किन्तु जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं पर आधारित जीवन-सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली कहानियाँ भी साहित्य को समृद्ध करती हैं। बड़े भाई साहब, पंचलैट, नन्दलाल की लीला, दाज्यू, सन्धान जैसी सैकड़ों कहानियाँ हमारे समाज के विभिन्न स्तरों को प्रकाशित करती हैं। **लतिका प्रियदर्शिनी** की रचना 'अम्मी हमारी वायरल हैं' और **वैशाली थापा** की कहानी 'हेडफोन' खूबसूरत रचनाएँ हैं जो सहजता के जादू को रचती हैं।

नयी भाषा और शिल्प की तलाश हर काल के रचनाकार को होती है। यह स्वाभाविक है लेकिन अति शिल्प चेतस होना, बाजारवाद का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी हो सकता है। **कैफी हाशमी** की कहानी 'शिया बटर' में उनका अति शिल्प आग्रही होना स्पष्ट नजर आता है। वे फैंटेसी में इतने अधिक उतर गया हैं कि रचना अबूझ पहेली बन गयी है। रचना किसी एक दिशा में नहीं ले जाती जबकि फैंटेसी की यह जरूरी शर्त है। बिम्बों, संकेतों और घटना बाहुल्य के सम्भार में मूल कथ्य बीच में लुप्त होता हुआ लगता है। इसी तरह भाषा को सँवारने के अति आग्रह के कारण वैभव सिंह की कहानी का कथ्य हाशिये पर जाता हुआ-सा लगता है।

पृष्ठभूमि के डिटेल्स और पात्रों की हरकतों को उजागर करने वाली **उषा दशोरा** की कहानी 'नोई अक्का' का भाषा कौशल रेखांकित करने के योग्य है जो पाठक को फौरन अपनी गिरफ्त में ले लेता है। कहानी स्वयं अपने आपको दुबारा पढ़ने के लिए आमन्त्रित करे, यह रचनाकार की बड़ी सफलता है। इसी तरह **शुभग नेगी** की कहानी 'पंडितों का कमरा' इस अंक की महत्त्वपूर्ण रचना है। हिन्दी साहित्य में पहाड़ों की जीवन स्थितियों और परम्पराओं को आधार बनाने वाले कहानीकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शुभग अगली कड़ी के रूप में गिने जा सकते हैं। वे हमें एक नये क्षेत्र में ले जाते हैं जहाँ परम्पराओं के बोझ-तले समाज का एक वर्ग त्रास झेल रहा है।

वस्तुत: जीवन की सामान्य-सी घटनाओं में भी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के अंकुर होते हैं। असमानता, शोषण, क्रूरता और जनविरोधी राजनीति के छल-प्रपंच के प्रतिरोध में हमारा साहित्य साहस के साथ खड़ा होकर अपने दायित्व का निर्वाह करता है, किन्तु जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं पर आधारित जीवन-सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली कहानियाँ भी साहित्य को समृद्ध करती हैं।

मानस भारद्वाज, नेहा नरूका और **दीपा मिश्रा** की कविताएँ प्रभावित करती हैं। **मुकेश वर्मा** का कॉलम 'सत्कथा कही नहीं जाती' हमेशा की तरह रोचक रहा। मुकेश की भाषा में अनोखा प्रवाह है और जब वे किसी को हनते हैं तब तो खुदा खैर करे (जाने किसकी)!

इन दिनों कहानी-विधा पर सैद्धान्तिक विमर्श और प्रवृत्तियों को रेखांकित करने का अभाव बढ़ता जा रहा है। आलोचना के स्थान पर नाम गिनाओनुमा टिप्पणियों की बहार है। ऐसे समय में **संतोष चौबे** का लेख 'आज की कहानी' नवलेखन विशेषांक को पूर्णता प्रदान करता है। कहानी-विधा (हिन्दी साहित्य की) की निरन्तरता में विधा के स्वभाव में शामिल होने वाले परिवर्तनों और पाठक की आकांक्षाओं को समझने की कोशिश इस लेख में उपस्थित है। आज की रचनाधर्मिता के सन्दर्भ में अपनी दृष्टि को समग्रता में, किन्तु सहज-सरल ढंग से वे प्रस्तुत कर सके हैं। आलेख में उन्होंने कुछ प्रश्न भी उठाये हैं। समकालीन हो पाने की दिक्कत और 'हम' को परिभाषित करने की कठिनाई बेशक कथा-आलोचना के महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जहाँ आलोचकों में रचनाकार के 'हम' को विश्लेषित करने की उत्तेजना होनी चाहिए। आलेख में समाज-व्यवस्था की पड़ताल उन्होंने की है, उससे आँख चुराकर किसी भी विधा की आलोचना खड़ी नहीं हो सकती, यह सही है। वे लेखक के साथ होना चाहते हैं, यह भी शुभ लक्षण है और उनकी टीम चयन के प्रति सजग है। हमारे समाज में जिस तरह के बिखराव और द्वन्द्व हैं, उन्हें प्रकाशित करने के लिए कहानी-कला के प्रति सजगता के साथ मूल्य-चेतस होने के लिए साहस की जरूरत है। व्यवस्था अब खुले रूप में सामाजिक सत्य से इंकार कर रही है या भ्रम के कुहासे में उसे मायावी बना रही है। यह काम 'वनमाली कथा' करती रहेगी, यह आशा है।

– रमाकान्त श्रीवास्तव, भोपाल

किरदार

सौ, सवा सौ साल की कहानी ने ऐसे कई पात्रों को सिरजा है जो अपने अनूठेपन की वजह से नजीर के तौर पर रखे जा सकते हैं। लहना सिंह, घीसू-माधव, मधूलिका, बाबा भारती, टोबाटेक सिंह, मित्रो, लतिका, अब्दुल गनी आदि ऐसे ही चरित्र हैं। कथाकार नहीं रहे, लेकिन ये किरदार आज भी जिन्दा हैं। यह जानना रोचक होगा कि आज के देशकाल में यदि ये किरदार अपने कथानक के फ्रेम से बाहर आ जाएँ तो कैसे दिखेंगे!

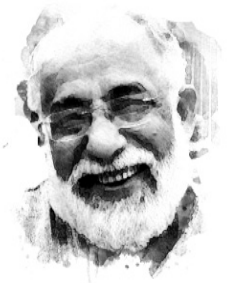

फेंस के इधर और उधर अब फेंस नहीं, अदृश्य दीवार है...

सूरज प्रकाश

ज्ञानरंजन की एक चर्चित कहानी है– फेंस के इधर और उधर। कहानी कुछ इस तरह से है– कथा-नायक अपने परिवार के साथ जिस घर में रहता है उसकी एक तरफ बंगला है और दूसरी तरफ सरकारी इमारत और पीछे की तरफ मकानों का पिछवाड़ा। हुआ यह है कि नायक के पड़ोस में नये पड़ोसी रहने आये हैं। पति-पत्नी और उनकी युवा बेटी। नायक और उसके परिवार की समस्या यह है कि यह परिवार अपने आपमें मस्त है और नायक के परिवार के साथ बिल्कुल मेलजोल नहीं रखना चाहता। नायक और उसका परिवार चाहता है कि उनके साथ राब्ता बढ़े, आना-जाना शुरू हो; लेकिन पड़ोसी इसके लिए मौका ही नहीं देते। उन्हें अड़ोसी-पड़ोसी की कोई परवाह नहीं है। अपनी खुशी और अपने आपमें मस्त रहने की उनकी आदतें देख कर नायक और उसके परिवार को बड़ी तकलीफ होती है। नायक यहाँ तक कल्पना करता है कि काश वह उनके घर में पैदा हुआ होता। नायक के परिवार के हर संवाद के केन्द्र में यही पड़ोसी होते हैं, नायक के घर में सारा दिन पड़ोसी पुराण खुला रहता है और दिन-भर उस तरफ ताक-झाँक होती रहती है। इसी में वे अपना समय गुजारते हैं।

पड़ोसियों की लड़की की शादी है। बिल्कुल सीधी-सादी, कोई शोर-शराबा नहीं, टीम-टाम नहीं और यही बात नायक और उसके परिवार को नागवार गुजरती है कि भला ऐसे भी कोई शादी होती है कि पड़ोसी को बुलाया न जाए! नायक अपने दोस्त के बहाने पड़ोसी की लड़की का चरित्र-हनन तक कर देता है।

कहानी में चूँकि नायक का कोई नाम नहीं है, इसलिए हम उसे नायक ही पुकारेंगे। नायक अब भी वहीं रहता है, लेकिन उसके खुद के घर का और आसपास का, शहर का, देश का और दुनिया का नक्शा पूरी तरह से बदल चुका है। उधर अब फेंस की जगह एक अदृश्य दीवार खड़ी हो गयी है। सिर्फ वहीं नहीं, ये दीवारें अब चारों तरफ खड़ी हो गयी हैं। और तो और ये दीवार अब उसके घर के अन्दर भी, परिवार के हर जन के चारों तरफ खड़ी हो गयी है। बेशक नजर नहीं आती। 'पड़ोसी' शब्द अब शब्दकोश में शिफ्ट हो गया है। हम, हम सब अकेले होते चले गये हैं। किसी का किसी से कोई वास्ता नहीं रहा। आँख मिला कर बात करने के लिए भी कोई नहीं मिलता। हमें नहीं पता कि दाएँ या बाएँ घर में कौन रहता है। कोई रहता भी है या नहीं!

नायक का मुम्बई वाला मित्र बताता है कि बड़े शहरों में तो हालत और खराब है। एक ही इमारत में रहने वाले लोग एक-दूसरे को नहीं पहचानते। मौका ही नहीं मिलता। आँगन और बरामदे या फेंस वाले घर अब किताबों में रह गये। ऊँची-ऊँची इमारतों में सैकड़ों अजनबी लोग रहते हैं जिनका किसी से कोई

वास्ता नहीं। नायक का दोस्त बता रहा था कि अब वहाँ की ऊँची-ऊँची इमारतों में ऐसे घर बने हुए हैं कि अपनी कार से उतरे, लिफ्ट में घुसे, लिफ्ट में अपने फ्लैट का पासवर्ड डाला और लिफ्ट आपके फ्लैट के अन्दर खुलेगी। अब कहाँ पड़ोसी और कैसा पड़ोसी! एक बार घर में घुस गये तो अगली सुबह ही निकलेंगे। घर में भी अब आपस में बात करने, गप्पबाजी करने के या इकट्ठे बैठ कर खाना खाने के दिन लद गये। जिसको जो खाना है, आनलाइन ऑर्डर किया और अपने बन्द कमरे में खा लिया। अब घर के लोग बातें नहीं करते, वाट्सऐप पर चैट करते हैं, एक ही घर में। मुम्बई का दोस्त वहाँ की जिन्दगी के कई किस्से बताता रहता है। वह बता रहा था कि उसे कम्पनी की तरफ से जो फ्लैट मिला था, उस चार मंजिला इमारत में कुल सोलह फ्लैट थे। वह दूसरी मंजिल पर रहता था। सब लोग उसी कम्पनी के अधिकारी थे। एक बार उसकी बीवी ने बताया कि सामने वाले पड़ोसी की माँ मर गयी है, जाकर अफसोस कर आओ। तब दोस्त ने अपनी पत्नी से कहा था कि मैंने पड़ोसी को आज तक देखा नहीं है, उसकी माँ को भी नहीं देखा, जाकर किसे अफसोस करूँ।

उसी बिल्डिंग का एक और किस्सा नायक का दोस्त बताता है। जब उसे कम्पनी की कॉलोनी में फ्लैट मिला था तो वह एक वर्ष वहाँ रहने के बाद शिफ्ट कर रहा था। जब सामान शिफ्ट हो रहा था, वह टैम्पो के पास खड़ा था, तभी एक पड़ोसी आया था और उसे देख कर मुस्कराया था... हें-हें-हें... कौन-से फ्लैट में रहने आये हैं? जब उसने जवाब दिया था कि मैं यहाँ पर एक वर्ष रहने के बाद शिफ्ट हो रहा हूँ तो उस भले आदमी ने पूछा था– कौन-से फ्लैट में रहते थे? जब दोस्त ने बताया कि मैं दूसरी मंजिल पर रहता था तो उसने कहा था कि मैं भी दूसरी मंजिल पर रहता हूँ, कभी देखा नहीं।

नायक का दोस्त बता रहा था कि जब वह संस्थान की तरफ से चेन्नई में ट्रेनिंग पर जाता था, जब साथियों से परिचय होता था तो पता चलता था कि दोनों एक ही इमारत में ऊपर-नीचे रहते हैं, एक ही लोकल ट्रेन से जाते हैं और आज तक नहीं मिले हैं। और यह भी होता था कि चेन्नई से लौट जाने के बाद में दोनों में मुलाकात नहीं होती थी।

नायक अपने बम्बई वाले दोस्त से ये सुन कर हैरान हो गया था कि आदमी को अकेले करने की कोशिशों में अब तो ये हालत हो गयी है कि सुरक्षा के नाम पर माई गेट नाम का एक ऐप लोड कर दिया गया है जो गेट पर बैठे सिक्यूरिटी गार्ड और हर निवासी के मोबाइल से जोड़ दिया गया है। अब आपसे पूछे बिना कोई भी आपसे मिलने नहीं आ सकता। न कूरियर वाला और न मेहमान। आपका भाई भी आपसे मिलने यूँ ही टहलते हुए नहीं आ सकता। बिना आपसे पूछे गार्ड उसे आने ही नहीं देगा।

नायक खुद अपने शहर में देखता है कि रही-सही कसर ग्लोबलाइजेशन ने पूरी कर दी है। जो कुछ बचा था, उसे कोरोना काल के साइड इफेक्ट्स ने पूरा कर दिया है। पड़ोसी तो खैर पूरे दृश्य में कहीं नहीं हैं, अब हम न तो अपने सब्जी वाले को, न दूध वाले को, न राशन वाले को, किसी को भी नहीं जानते। किसी को भी नहीं। अब तो छोटे-बड़े हर शहर का ये आलम है कि सारी चीजों की सप्लाई ऑनलाइन हो गयी है। जो भी चाहिए, मोटरसाइकिल से लेकर गाय के उपले तक, सारी चीजें मोबाइल पर पसन्द कीजिए, ऑर्डर दीजिए, पेमेंट कीजिए और दो घंटे में दरवाजे पर डिलीवरी हाजिर। पसन्द नहीं तो वापिस कीजिए, दुकानदार कहीं नहीं है कि जाकर वापिस करने के लिए जद्दोजहद करनी पड़े। नायक को बैंक गये वर्षों हो जाते हैं। सिनेमा, क्रिकेट मैच, मेले-ठेले और दुनिया-जहान की गतिविधियाँ अब नायक के घर आ चुकी हैं। सिनेमा हॉल और क्रिकेट स्टेडियम हमारे मोबाइल में सिमट कर रह गये हैं। कहीं जाने की जरूरत नहीं पड़ती। सारे बाजार मोबाइल में मौजूद हैं, सबकुछ ऑनलाइन है– घर बैठे। नौकरी भी, पढ़ाई भी, डॉक्टर की सलाह भी, कविता-कहानी-पाठ भी और दोस्तों से यारी-दोस्ती भी। सेमिनार भी और किताब का लोकार्पण भी। अब नायक के घर में सब इतने अकेले होते चले गये हैं कि पप्पी, भाभी और खुद नायक घर में चार कोनों में अपने-अपने मोबाइल लिये बैठे होते हैं और एक-दूसरे से बात नहीं करते।

नायक की चिन्ता थी कि पड़ोसी उन्हें अपने जीवन में शामिल नहीं करता या बेटी की शादी में नहीं बुलाया। अब तो उसकी गुंजाइश ही नहीं रही है। पड़ोस में कौन रहता है, यह भी नहीं पता होता। वह दिन हवा हुए जब किसी घर में शादी होती तो पूरा मोहल्ला अपने परिवार की शादी समझकर शामिल होता था। अब तो शादी भी ऐसी होती है कि लड़के और लड़की के माता-पिता भी मेहमानों की तरह शामिल होते हैं और सबकुछ बाहर वाली एजेंसियाँ मैनेज करती हैं। किसके घर कौन आया, कौन गया– कोई खबर नहीं होती। नायक देखता है कि अब तो निकट सम्बन्धियों तक को शादी के कार्ड वाट्सऐप पर भेजे जा रहे हैं और सगुन की राशि पेटीएम की जा रही है।

नायक ने इन दिनों की तो कल्पना या कामना नहीं की थी। लेकिन ये दिन भी आये ही हैं।

मो. 9930991424

दस कविताएँ

❑ पंकज चतुर्वेदी

मुगलसराय
सिर्फ एक स्टेशन का नाम नहीं

कई बार रेलवे स्टेशन का
प्रतीक्षालय भी
मुझे घर-जैसा लगा है
बेशक कम सुविधा
कम इत्मीनान
कम समय के लिए
कुछ लोगों का साथ
रहता है

अगर हम वहाँ
रह नहीं सकते
तो घर भी बार-बार
लौट आने के लिए है
रह जाने के लिए नहीं

घर एक सराय है
और दुनिया भी

आराम की जगह
सफर में पड़ने वाला
मकाम है

इसलिए मुगलसराय
सिर्फ एक स्टेशन का
नाम नहीं
भारतीय इतिहास की
महान यादगार है

उस नाम को
मिटाने का मतलब है
तुम नहीं चाहते
कि लोग जानें :
कोई यहाँ
कभी आया था
ठहरा था
उसने भी इस देश से
मुहब्बत की थी
इसे बनाया था

तुमको यह भी लगता है
कि तुम इस दुनिया में
रह जाओगे
और जो चले गये
वे कम समझदार थे।

अगर आपके पास ताकत है

अगर आपके पास ताकत है
तो आप असहमति को
दबोच सकते हैं
और फिर
मुस्करा सकते हैं

लोकतन्त्र
दबोची हुई निरीहता पर
ताकतवर की मुस्कान है

जिससे जनता को लगता रहे
कि मार रहा शख्स
मेहरबान है।

नया नियम

तुम जो भी हो
किसान या मजूर
इस देश के
नागरिक नहीं हो

राज्य तुम्हें
पहचानता नहीं

खुदकुशी गुनाह नहीं है
यह कहना गुनाह है :
हालात
खुदकुशी के हैं

हताशा के इजहार से
साबित नहीं हो पाता
सब साथ हैं
सबका विकास हो रहा है

लोकतन्त्र का
नया नियम है :
दुख को जो कहेगा
नागरिक नहीं रहेगा!

आशय तक पहुँचने के लिए

कभी-कभी
आशय तक पहुँचने के लिए
वाक्य को
पार करना पड़ता है

मसलन हमारे दौर में
'अब कुछ हो नहीं सकता'
निराशा का इजहार नहीं

बल्कि किसी व्यक्ति की
प्रशंसा में
कहा गया वाक्य है।

आत्महत्या के विरुद्ध

एक बार किशोर अवस्था में
हताशा के किसी क्षण में
मैंने माँ से कहा :
'मैं आत्महत्या कर लूँगा!'

उन्होंने जवाब दिया :
'मेरे साथ यह घटियाई
मत करना!'

वह बहुत कम
पढ़ी-लिखी हैं
पर जो ज्ञान
उन्होंने मुझे दिया
आज तक
किसी किताब में
नहीं मिला।

एक दिन आयेगा

एक दिन आएगा
जब राष्ट्रपति वही कहेंगे
जो प्रधानमन्त्री कहेंगे
वही उपराष्ट्रपति कहेंगे

वही मुख्यमन्त्री, मन्त्री,
सांसद, विधायक
और जो भी अन्य
अधिकारी सम्भव हैं–
कहेंगे

सत्ता का एक केन्द्र होगा
जिसके पास भाषण की
मूल प्रति होगी
बाकी सब उसकी धुँधली
और कमजोर छाया-प्रति का
पाठ करेंगे

व्यक्तित्व का दोहराव होगा
व्यक्तित्व नहीं

जब कोई कुछ और कहेगा
तो कहा जाएगा :
कहने वाले में ही कमी है

यह वह बात
क्यों नहीं कह रहा है
जो सब कह रहे हैं।

साथ-साथ यह बताया जाए

मन्दिर में आरती के बाद
सुनता हूँ प्रार्थना का
उत्साहित सिंहनाद :
'धर्म की जय हो!
अधर्म का नाश हो!'

अगर धर्म का मतलब
मनुष्यता है तो
जरूर उसकी जय हो

लेकिन उसका अर्थ
धर्म की राजनीति है
तो साथ-साथ
यह बताया जाए
कि जब उसकी जय हो
तो संविधान का क्या हो?

इसी तरह
अधर्म का आशय
अमानुषिकता है तो
निश्चय ही
उसका नाश हो

लेकिन उसका अभिप्राय
असहमति है
तो साथ-साथ
यह बताया जाए
कि जब उसका नाश हो
तो लोकतन्त्र का क्या हो?

सत्ता का सरोकार

सत्ता का सरोकार है
कि तुम हिंसक व्यवहार के
आदी बनो

गर्व से कहो
कि तुम विजेता हो

आँसू
कमजोरी की निशानी हो
गरीब की रोटी छीन लेना
ताकत की

हँसते समय यह सीखो
कि निर्बल का अपमान करके
कैसे हँसा जाता है

प्यार एक वर्जित खयाल हो
और जो उस राह पर चले

उसमें शर्मिन्दगी और
अपराध-भाव पैदा हो

अपराधी यह कहें
कि निरपराध करना है
समाज को।

फूलपुर को खोजता हूँ

मध्य प्रदेश में रहते हुए
उत्तर प्रदेश ही स्वदेश लगता है
जहाँ इन दिनों चुनाव हैं

लिहाजा काफी उम्मीद
और चिन्ता से
देखता-सुनता हूँ समाचार

बचपन में पिता
फूलपुर का नाम लेते थे
कि वहाँ से चुन कर
आते थे नेहरू
तो फूलपुर मेरी कल्पना में
एक स्वप्निल और
खूबसूरत जगह थी

अब सारे मिथक टूट चुके
जानता हूँ चुनाव
लोकतन्त्र का ऐसा उत्सव है
जिससे और चमकते हैं आततायी
जनपदों में और उड़ती है धूल

फिर भी मैं फूलपुर को
खोजता हूँ अपने गणराज्य में
जो किसी असफल
स्वप्नदर्शी को चुने
सफल अपराधी को नहीं!

हत्यारे आ गये

हत्यारे आ गये हैं
समाचार-माध्यमों पर
अपना जुर्म कुबूल करते
निर्दोष की हत्या के
गौरव से भरे हुए

खुफिया कैमरे के सामने
अपने शौर्य का बखान करते
पुलिस और राज्य के
संरक्षण की आश्वस्ति
और आह्लाद से
रोमांचित

कैसे मारा था उस निरीह को
जिसे बचाने वाला कोई न था
कितनी देर तक
कितने लोगों ने मिलकर
और जब उसने पानी माँगा
पानी नहीं दिया

हत्यारे आ गये हैं
किसी एक सूबे तक
सीमित नहीं
बल्कि मुल्क में
जगह-जगह बिखरे हुए
उनके उन्मादी जत्थे हैं

तुम जिसे अपवाद समझते थे
अब इस देश का नियम है

तुम कहाँ जाओगे इसे छोड़कर
भीतर से कोई पुकार उठती है :
आखिर यही माटी है
जिसमें तुमने जन्म लिया था
और जिसे तुम
प्यार करते हो।

8-एन, नवशील धाम, फेज-2,
बिठूर रोड, कल्याणपुर,
कानपुर-208017 (उ.प्र.)
मो. 9354656050

शम्पा शर्मा इस अजनबी और अजूबे संसार में प्रवेश करते हुए जितनी सहमी हुई थी, उतनी ही चकित थी कि उसके साथ किसी अपराधी-जैसा सलूक क्यों किया जा रहा है? उसने कोई अपराध नहीं किया था, फिर भी वह इस यातना-गृह में भेज दी गयी थी। पुलिसवालों से लेकर यहाँ की वार्डन तक का व्यवहार भी ऐसा था जैसे वह कोई अपराधिनी हो!

अवधेश प्रीत

कलंक-मुक्ति

जितनी लड़कियाँ, उतनी ही कहानियाँ। हर कहानी जुदा, हर किरदार जुदा। कोई मुख्तसर, कोई तवील। धोखा, छल, फरेब, यातना, प्रताड़ना, धिक्कार, दुत्कार की अन्धी लम्बी सुरंग से गुजर कर यहाँ तक पहुँची इन लड़कियों के साथ लगी चली आयी हैं ये तमाम कहानियाँ। इन कहानियों में नयी कहानी आकर जुड़ी है शम्पा शर्मा की।

शम्पा शर्मा उम्र अठारह साल, पिता का नाम स्वर्गीय राजेन्द्र शर्मा, ग्राम तरइन, थाना भँवरा, जिला कुछ भी हो सकता है। रंग गोरा, हाइट पाँच फुट पाँच इंच, ठुड्डी पर तिल-बराबर तिल। शम्पा शर्मा की बाबत ऐसी अनेक सूचनाएँ दर्ज हैं इस रिमांड होम के रजिस्टर में। जो दर्ज नहीं है, वह यह कि शम्पा शर्मा के खूबसूरत चेहरे पर अनन्त पीड़ा पसरी हुई है, कि उसकी आँखों में डरावना सन्नाटा थपेड़े खा रहा है, कि उसके होठों का रंग नीला पड़ गया है, कि उसके जिस्म पर जितने जख्म थे, उससे ज्यादा लहूलुहान उसका मन था। वह एक साथ जिस्म, मन और शम्पा शर्मा थी।

शम्पा शर्मा को यहाँ पुलिस लेकर आयी थी। ले क्या आयी थी, जैसे किसी लावारिस जानवर को बाड़े में धकेल गयी थी। वार्डन के साथ कानूनी

लिखा-पढ़ी के बाद एक महिला सिपाही ने कहा था, ''ले भई, सँभाल छोरी को।''

उस सिपाही की आवाज में हिकारत थी, बला टली की उफनती साँस थी। जाते-जाते उसने शम्पा शर्मा को नसीहत दी थी, ''बहुत सख्त है वार्डन मैडम, भागने की कोशिश ना करियो!''

''उसकी शामत आयी होगी जो ऐसी जुर्रत करेगी।'' वार्डन मैडम कविता सिन्हा ने घूरा ऐसे था मानो टेढ़ी आँख से ही सीधा कर देने की महारत हासिल हो। शम्पा शर्मा पर उनकी तरेरी आँखों का कोई असर नहीं हुआ था। उलटे उसने अपनी आँखें कविता सिन्हा की आँखों में पिरो दी थीं। कविता सिन्हा ताब सह न पाई थी। रजिस्टर बन्द करते हुए पूरी शक्ति से चीख पड़ी थी, ''रेशमा...!''

रेशमा रिमांड होम की सुरक्षा-सेविका थी। दौड़कर आयी और दरवाजे में खड़ी होकर बोली, ''जी मैम!''

''ये लड़की अभी आयी है। इसे रूम नम्बर फाइव में ले जाओ।''

'रूम नम्बर फाइव'– शम्पा शर्मा के दिमाग में ठक्क से बजा था और वह रेशमा के पीछे चल पड़ी थी। वार्डन ऑफिस और रूम नम्बर फाइव के बीच चार रूम, एक हॉल और एक किचन जितनी लम्बी दूरी थी। ऊँची चहारदिवारी के कई हिस्सों से झाँकती ईंटों में कहीं-कहीं बने गड्ढे इस बात के सबूत थे कि दीवार फाँदकर लड़कियों के भागने की कोशिश में उनके पंजों से घिस-घिस कर ये निशान बने होंगे। पता नहीं कोई लड़की फरार होने में कामयाब हुई या नहीं, गोकि दीवार फाँदकर भागने की कोशिश में कइयों के पकड़े जाने की खबर अखबारों में छपती रही हैं। झड़ते प्लास्टर और बदरंग होती रिमांड होम की यह बिल्डिंग यूँ भी रक्षा-गृह कम, यातना-गृह ज्यादा लग रही थी।

शम्पा शर्मा इस अजनबी और अजूबे संसार में प्रवेश करते हुए जितनी सहमी हुई थी, उतनी ही चकित थी कि उसके साथ किसी अपराधी-जैसा सलूक क्यों किया जा रहा है? उसने कोई अपराध नहीं किया था, फिर भी वह इस यातना-गृह में भेज दी गयी थी। पुलिसवालों से लेकर यहाँ की वार्डन तक का व्यवहार भी ऐसा था जैसे वह कोई अपराधिनी हो! जिस तरह वह अब तक जिन्दा लाश और मुर्दा चेतना के बीच हिचकोले खा रही थी, उसमें उसका होना अपने नियन्त्रण में नहीं था। वह इसी आलम में यहाँ आ पहुँची थी और अब वह अपनी ही देह में सिकुड़ी जा रही थी उन लड़कियों की घूरती आँखों का सामना करते हुए। सारी आँखें, चेहरे, भाव-विभाव अदेखे... अनजाने। वह इन अजनबियों के बीच अकबकायी हुई थी, तो चकित वो लड़कियाँ भी थीं, एक अजनबी लड़की को अपने बीच देख कर। वे इस नवागन्तुक के प्रति उत्सुकता से भरी हुई थीं। अपने रूम के दरवाजे से झाँकते हुए या कि बरामदे में बैठकर एक-दूसरे के सर से जुएँ निकालते हुए, उचक-उचक कर देखती हर लड़की की आँखों में कोई-न-कोई सवाल था। बाथरूम से लौटती एक लड़की उसके सामने आकर खड़ी हो गयी थी, ''धन्धा करते पकड़ी गयी?''

इस लड़की की आँखों में उत्सुकता की चमक और जिज्ञासा की लपक थी, ''तू कैसे फँस गयी?''

शम्पा शर्मा क्या जवाब दे? अपनी नियति पर चिटक कर रह गयी थी। रेशमा ने पलटकर झिड़की दी थी, ''रोमा, तंग नहीं करने का!''

'रोमा'– यह नाम शम्पा शर्मा के मन में घुलता हुआ रूम नम्बर फाइव तक आया था।

रूम नम्बर फाइव के दरवाजे में खड़ी होकर रेशमा ने हिदायत दी थी, ''ये तेरा रूम। सबके साथ एडजस्ट करने का।''

रेशमा ने रूम के अन्दर मौजूद लड़कियों को शम्पा शर्मा की बाबत कुछ नहीं बताया। शायद बताने की जरूरत भी नहीं समझी थी। शम्पा शर्मा से भी उन लड़कियों के बारे में कुछ नहीं कहा। यह एक निहायत भोंडा आचरण था... निर्मम... गैरजिम्मेदाराना...। रेशमा ने शायद इसे ही एडजस्ट करने को कहा था।

रेशमा की आँखें शम्पा शर्मा के चेहरे पर टिकी थीं। शम्पा ने गर्दन हिलाकर हामी भरी थी।

रूम नम्बर फाइव में चार लड़कियाँ पहले से थीं। शम्पा शर्मा पाँचवीं थी। शम्पा शर्मा को देखकर माला ने मुँह बनाया, ''लो, पहले ही ठेलम-ठेली थी, अब एक और आ गयी।''

''नरकों में ठेला-ठेली!'' यह छोटे कद की तीखी मिर्च सोनी थी। चेहरे से चिड़चिड़ी, गोया हर वक्त लड़ने पर आमादा।

''ओ... आओ...'' दीवार से पीठ टिकाये रत्ना ने स्वागत के लहजे में उसकी हिमायत की, ''इसमें इस बेचारी का क्या कसूर, वार्डन ही साली बदमाश है।''

''ओय-होय, क्या बात है... बदमाश है, तभी तेरा उससे याराना है!'' यह

तीखे नाक-नक्श वाली रूपा थी। थोड़ी मुँहफट, थोड़ी घठायी।

रूपा के इस उलाहने से रत्ना का चेहरा सुर्ख हो आया था। उसने पाँव फैलाते हुए पूछा, ''क्या नाम है तेरा?''

''शम्पा... शम्पा शर्मा।'' बड़ी कठिनाई से बता पायी। इन अजनबी लड़कियों के साथ उसका संकोच आड़े खड़ा था।

दस बाई बारह फुट के इस कमरे में तीन चौकियाँ एक-दूसरे से सटी पड़ी थीं। तीनों चौकियों पर चार लड़कियाँ पहले से काबिज थीं, पाँचवीं को भी इन्हीं चौकियों पर एडजस्ट करना था। आपस में जुड़ी इन चौकियों पर बिस्तर, चादर, कमीज, सलवार जिस तरह एक-दूसरे से गुत्थमगुत्था थे, उससे यह अन्दाजा लगा पाना मुश्किल था कि कौन-सा सामान किसका है। तकिया, तौलिया, दुपट्टों की तरह इन रहवासिनों के दुख-सुख भी साझा थे। वे अलग-अलग संज्ञाएँ थीं, अलग-अलग कथाएँ, लेकिन इन कपड़ों में किसके आँसू जज्ब हैं, किसकी आहें फना हैं, अलगाना सम्भव नहीं था। रूम की दीवारों से झड़ती चूनाकली की पपड़ियाँ बिस्तरों पर चिन्दी-चिन्दी बिखरी हुई थीं। सीलिंग से प्लास्टर के लटके टुकड़े किसी झटके की प्रतीक्षा में थे... अटके थे तो सिर्फ इन रहवासिनों की अच्छी किस्मत से।

'अच्छी किस्मत' के नाम पर सारी लड़कियाँ खूब जोर-जोर से हँस पड़ी थीं। इस हँसी में किस्मत को चिढ़ाने की अदा पैबस्त थी।

''अच्छी किस्मत होती तो ये नरक भोग रहे होते?'' ये तंज माला ने किया था और एक बार फिर सारी लड़कियों की हँसी फूट पड़ी थी। शम्पा शर्मा को हँसी नहीं आयी थी, वह तो मानो हँसना ही भूल गयी थी। माला ने उसका हाथ पकड़कर अपनी तरफ खींचा था, ''हम भी अपनी हँसियाँ भूल चुकी थीं... जीने के लिए ये हँसियाँ खोजी हैं हमने।''

रत्ना जो दीवार से पीठ टिकाये बैठी थी, बोली, ''हँसना पड़ता है... शम्पा। आँसुओं के सैलाब में पतवार होती है हँसी।''

शम्पा शर्मा को इस हँसी, आँसू, सैलाब और पतवार की पार्श्व-कथा जल्द ही समझ आ गयी थी। सच कहती हैं ये लड़कियाँ, अच्छी किस्मत होती तो उन्हें यहाँ क्यों शरण लेना पड़ता? एक नरक से दूसरे नरक की यह यात्रा क्यों करनी पड़ती? रूम की तमाम लड़कियों के साथ एडजस्ट करते हुए शम्पा शर्मा को थोड़ा वक्त लगा, परन्तु जल्द ही उसे अहसास हो गया कि जिस तरह वह नियति की मारी यहाँ आने को विवश हुई है, उसी तरह हर लड़की अपनी नियति की शिकार है। ज्यादातर लड़कियाँ अपनों की छल और बेरुखी की मारी थीं।

ऐसी ही कहानी थी माला की। बिना माँ-बाप की माला को उसकी मौसी ने जगत के हाथों बेच दिया था पूरे पचास हजार में। तब सिर्फ सोलह साल की थी वह। अचानक एक दिन इसरी बाजार में खरीदारी कर मौसी ने उसे नयी साड़ी, ब्लाउज, पेटीकोट, सैंडिल, चप्पल, लिपस्टिक, पाउडर, कंघी, बिन्दी, चूड़ी, बाली, सिंगार-पटार से लाद दिया था। वह समझी थी, कोई देवता सहाय हुए हैं शायद, कि ये नेमत उसे बिन माँगे मिल गयी है। अभावों के दामन में कुबेर ने खजाना उड़ेल दिया था। मौसी उसकी खुशी पर निहाल हुई जा रही थी। पहली बार मौसी का दुलार उस पर उमड़ा था। वह बार-बार उसे खुद से लिपटाती और लाड़ से चूमती। सबकुछ अप्रत्याशित था। माँ-बाप की मौत के बाद जिस प्यार-दुलार के लिए छछन कर रह गयी थी वह, एकाएक पाकर उड़ने लगी थी। बिना पंख भी उड़ा जा सकता है, यह चमत्कार उस दिन उसके साथ हुआ था। वह उड़ती हुई मानेश्वर मन्दिर आ पहुँची थी। उसी मन्दिर के कोने में मौसी ने उसे तैयार किया था। तैयार होते हुए वह खुश तो थी, कि नयी साड़ी-ब्लाउज में उसका तन सजीला हो आया था, कि नये कपड़ों की गन्ध की खुमारी अन्दर तक उतरती चली गयी थी। नहीं पता था, उसकी इस खुशी के साथ उसका दुर्भाग्य बगलगीर था। मौसी ने मन्दिर की बेदी पर पहुँच कर बताया, ''आज तेरा ब्याह है। बड़ी मुश्किल से एक लड़का मिला है।''

वह मौसी को भौंचक ताकती रह गयी थी। ऐसे ब्याह होता है कहीं... अचानक... गुड्डे-गुड़िया के खेल की तरह? मौसी ने सीने से लगाकर सच की सीवने उधेड़ दीं, ''गरीब लड़की का बेड़ा पार लग जाय, यही बहुत... तेरी माँ ने जो जिम्मेदारी सौंपी थी उससे मुक्ति मिल जाये बस...''

उसे मौसी की उलाहना, प्रताड़ना से मुक्ति का मार्ग नजर आया था यह ब्याह। लेकिन पचास साल का जगत जब दूल्हा बनकर सामने आया तो उसकी घिग्घी बँध गयी। जी में आया, विवाह-बेदी से उठकर भाग जाये, पर मौसी का डर और नये कपड़ों, गहनों के मोह ने उसे बाँध कर रख दिया। वह पगहे में बँधी गाय की तरह जगत के पीछे-पीछे चल पड़ी थी... कहाँ?

कुछ पता नहीं। रेलवे स्टेशन पर पहुँचकर जगत ने बताया, ''हरियाणे जा रही तू। वहीं तेरी ससुराल है।''

ससुराल के नाम पर उसका गला भर आया। जगत को पहली बार भर-निगाह देखा। गेहुएँ रंग की धूप तपायी देह, लम्बी तीखी मूँछ, चेहरे पर पकी उम्र की ठसक। कहीं से भी दूल्हा नहीं लग रहा था वह। ट्रेन में सवार होने से पहले उसने प्रतिकार किया, ''नहीं, मैं नहीं आ रही तेरे साथ।''

''कैसे नईं आयेगी तू...? पूरे पचास हजार दिये तेरी मौसी को, अब मेरा हक है तुझ पर।'' जगत सौदा खरीद लेने के गुमान से भरा था। उसके स्वर में फटकार थी। रुलाई फूट पड़ी थी। सिसकी सीने में बाँधे चुपचाप ट्रेन में सवार हो गयी थी। ट्रेन की सीट पर गुड़ी-मुड़ी बैठी सुबकती रही। जैसी भी थी, मौसी से बिछड़ने की कसक घुमड़ती हुई आँखों में उमड़ आयी थी।

ट्रेन किसी बड़े स्टेशन पर रुकी थी। जाँच करती पुलिस पार्टी को डब्बे में घुसता देखकर जगत कहीं खिसक गया था। पुलिस वालों ने पूछा, ''कौन है तेरे साथ?''

''जगत।''

''कौन है वो?''

पति... आदमी... मरद... क्या कहे? कहते न बना... होंठ भिंच कर रह गये।

''कहाँ है वो?'' एक पुलिस वाले ने घुड़की दी।

वह हकबकायी-सी अपने आप में सिमट गयी थी। पुलिस का डर देह में समा गया था। दूर-दूर तक जगत का पता नहीं था। एक पुलिस वाला बोला, ''ये नाबालिग लगती है... कोई जबरदस्ती ले जा रहा इसे।''

''ऐसा ही बुझाता है, सर।'' थोड़ा बुजुर्ग पुलिसवाला बोला, ''हमको तो जबरिया ब्याह लगता है।''

आस-पास के यात्री इर्द-गिर्द सिमट आये थे। उन्हीं में से कोई बोला, ''इसके साथ एक अधेड़ आदमी था। पुलिस को देखकर खिसक गया।''

ट्रेन चलने को हुई थी। पुलिस वालों ने उसे अपने साथ उतार लिया था।

''तुम मौसी के पास क्यों नहीं चली गयी?'' शम्पा शर्मा ने जिज्ञासा व्यक्त की।

''उसे तो मालूम भी नहीं कि मैं यहाँ हूँ। क्या फायदा वो अपने साथ ले भी जाती कि नहीं... पहले ही बेच कर छुट्टी पा चुकी थी।''

शम्पा शर्मा को तो माँ-भाई सभी ने घर ले जाने से इंकार कर दिया था। माँ ने खुद मजिस्ट्रेट से गुहार लगायी थी, ''हुजूर, शम्पा को हम अपने घर नहीं ले जा सकते।''

मजिस्ट्रेट ने आश्चर्य से पूछा था, ''क्यों... क्यों नहीं ले जा सकती अपनी बेटी को अपने साथ?''

''गाँव वालों ने मना किया है... दबंगों ने धमकी दी है... लड़की गाँव में आयी तो पूरे परिवार को गाँव से बाहर निकाल देंगे।'' माँ ने अपनी विवशता जतायी थी।

गाँव वालों के डर से माँ ने शम्पा शर्मा को घर ले जाने से मना कर दिया था और वह रिमांड होम भेज दी गयी थी। माला को तो कोई घर ले जाने वाला नहीं था... लेकिन रत्ना? रत्ना के घर वालों को तो पता ही नहीं कि वे कहाँ है?

''क्यों... क्यों तुम्हारे घर वालों को तुम्हारा अता-पता नहीं?'' रत्ना की बात सुनकर शम्पा शर्मा चिंहुकी थी।

''शम्पा, यहाँ जितनी लड़कियाँ हैं, इनका कोई पता-ठिकाना होता तो ये यहाँ लावारिस क्यों पड़ी होतीं? जिनका अता-पता है भी, उनके तो घर वालों ने ही उनके हाल पर छोड़ दिया है।'' रत्ना की आँखों में उसका अतीत झाँक रहा था।

''क्यों... क्यों घर वालों ने छोड़ दिया है इन लड़कियों को?''

''इसलिए कि इन लड़कियों ने अपने घरवालों की इज्जत खराब कर दी है... कि इनके घर वाले किसी के सामने मुँह दिखाने के काबिल नहीं रहे... इनकी वजह से ही वे समाज के सामने सर उठाकर नहीं चल सकते... कि इन लड़कियों ने कुल-खानदान के नाम पर कालिख पोत दी है।''

शम्पा शर्मा ने रत्ना की आँखों में आँखें डालकर पूछा, ''तुम्हारे साथ क्या हुआ था?''

रत्ना ने अपनी गर्दन घुमायी... पीछे मुड़कर देखा... यह अपनी छूट आयी जिन्दगी की ओर देखने का उपक्रम था शायद।

''प्यार... प्यार के चक्कर में सबकुछ खो बैठी मैं।''

शम्पा सिहर गयी। प्यार... प्यार में तो उसने भी सबकुछ खो दिया है... तो क्या उसकी और रत्ना की कहानी एक है...? क्या है रत्ना की कहानी?

''नहीं-नहीं... मैं कुछ याद नहीं रखना चाहती... मैं प्यार के खामखयाली से बाहर आ चुकी हूँ...'' रत्ना अपने अतीत से और उसकी तल्ख यादों से सायास पीछा छुड़ाने की कोशिश कर रही थी, लेकिन यह मुमकिन नहीं हुआ। शम्पा शर्मा के आग्रह के सामने तो जैसे वह पिघल ही गयी... तरल... अश्रुनद में हिचकोले खाता मन... मन के किसी कोने में

दुबका प्यार।

''परमा को टूटकर चाहा था मैंने। मेरी साँसों में... रगों में... वजूद में समाता चला गया था वह। पता नहीं कैसा जादू था परमा की शख्सियत में, पता नहीं कैसा नशा था उसकी मौजूदगी में, खो गयी थी उसमें। छुप-छुप कर मिलने से मिलने की कशिश बढ़ती गयी थी। कभी किसी निचाट सन्नाटे में परमा से मिलती तो वह साये की तरह चिपक जाता, गिरफ्त से छूटती तो गिरफ्त कसती जाती, मिलने की चाहत बार-बार खींचती और जब भी मिलती हमेशा-हमेशा के लिए इस मिलन को स्थायी कर देने की चाहत से भरी हुई होती। ऐसी ही चाहत के वशीभूत परमा से जिद की थी– चलो यहाँ से कहीं दूर चलें।''

''लेकिन कहाँ?''

''कहीं भी... जहाँ हम और तुम हों और हमारा प्यार हो?''

''...''

''क्या हुआ... तेरा मन नहीं करता?''

''ऐसी बात नहीं... मन तो बहुत करता है... लेकिन डर लगता है।''

''तू डरता है... प्यार करने वाले किसी से नहीं डरते।''

''ऐसी बात नहीं... मैं तुझे बहुत प्यार करता हूँ।''

''फिर चल भाग चलें।''

''भाग चले थे दोनों। कहाँ जाना... पता नहीं था। मुझे तो बस इस बात की खुशी थी कि परमा साथ है, कि मैं परमा के साथ हूँ। लेकिन परमा अचानक साथ छोड़कर गायब हो गया था। कहाँ? कहाँ गया वह? पटना रेलवे स्टेशन के प्लेटफॉर्म नम्बर चार की एक बेंच पर बिठाकर बोला था– कोई ठिकाना पता करता हूँ... बुआ रहती है यहाँ... शायद उसके यहाँ रहने को मिल जाये।

''सिर हिलाकर हामी भरी थी। भरोसा था परमा पर... अपने परमा पर। लेकिन आँखें पथरा गयी थीं... नहीं लौटा था परमा। आस टूटने लगी थी। खुद को अकेली और असहाय पाकर पहली बार कलेजा काँपा था। आँखों के आगे धुँधलका घिर आया था। बदहवास-सी स्टेशन से बाहर आयी थी। शाम उतर रही थी। रंग-बिरंगी रोशनियों की मायावी झिलमिल में हक्की-बक्की खड़ी रह गयी थी मैं। लोग ही लोग थे। दौड़ते... भागते... किसी को किसी की सुधि नहीं... किसे पुकारती... किसे आवाज देती... अचानक दो लड़के आ सटे थे– ''कितना लेगी?''

''क्या...?'' मेरा गला सूख गया था। नहीं समझ पायी थी उन लड़कों का आशय।

''एक रात का कितना लेती है?'' ये लड़का थोड़ा ढीठ था। बेशर्म हँसी उसके चेहरे पर थी। रुआँसी हो आयी थी। क्या समझ लिया इन लड़कों ने? तेजी से भागी थी। वे लड़के उसी तेजी से पीछे आये थे, ''ज्यादा नखरे मत दिखा... रेट बोल, रेट!''

मैं भागकर उन औरतों के पास जा खड़ी हुई थी, जो एक दीवार के सहारे लगकर खड़ी थीं। नहीं जानती थी उन औरतों के बारे में; उनके साथ अपनी सुरक्षा के लिए खड़ी हुई थी। वही अभिशाप बन गया। पुलिस के छापे में पकड़ी गयी थी मैं।

''धन्धे में नयी आई तू?'' मेरी घबराहट, मेरी मासूमियत में कुछ सच्चापन था, जिससे पुलिस वाली ने पूछा था।

''नहीं... मैं घर से भागकर आयी... अपने परमा के साथ।''

''कहाँ गया वो... छोड़कर भाग गया?'' पुलिसवाली ने जैसे मेरा चेहरा पढ़ लिया था।

कुछ कहते न बना। गले में रुलाई अटकी थी। जुबान तालू से चिपक गयी थी।

''नहीं लौटेगा वो... छोड़ गया तेरे को... धोखा दे गया नामुराद।'' पुलिसवाली के स्वर में हिकारत थी।

अगले दिन कानूनी प्रक्रिया के बाद मैं इस रिमांड होम भेज दी गयी थी।''

''अपने घर क्यों नहीं लौट गयीं तुम?'' शिल्पा शर्मा की उत्सुकता में कौतूहल था।

''किस मुँह से लौटती? माँ-बाप की नाक कटा चुकी थी। सबकी नजरों में गिर चुकी थी। नहीं शम्पा, हिम्मत नहीं हुई मेरी। मेरे घरवालों को आज तक नहीं पता कि मैं कहाँ हूँ?''

''इच्छा नहीं होती घर जाने की?'' शम्पा शर्मा ने नाजुक तार छेड़ दिया था।

रत्ना की आँखें भर आयी थीं। वह छत की ओर देखने लगी थी। शम्पा शर्मा सकपका गयी थी। रत्ना की चुप्पी ने उसे सकते में डाल दिया था।

वह रात का आखिरी पहर था, जब सारी लड़कियाँ नींद में डूबी बेखबर सोयी थीं। रिमांड होम की बिल्डिंग का उनींदापन सन्नाटे में डूबा था। गाढ़ी नींद और अलसायी भोर की इस सन्धि बेला में अचानक कोई खटका-सा हुआ और भगदड़-सी मच गयी। कई लड़कियाँ जैसे सिर्फ साये हों, वो पलक झपकते अपनी-अपनी नींदगाहों में जा घुसीं। सिक्योरिटी गार्ड ने सीटियाँ बजाते हुए पूरे रिमांड होम को सर पर उठा लिया था। लड़कियाँ जाग

गयी थीं। सेविकाएँ, कर्मचारी सभी आ जुटे थे। वार्डन ने पूछा, ''क्या हुआ बहादुर?''

''लड़कियाँ भाग रही थीं, मैडम। टैम रहते देख लिया मैं।'' सिक्योरिटी गार्ड ने अपनी मुस्तैदी का मुजाहिरा किया। ''सारे कमरों की तलाशी लो... देखो, कोई फरार तो नहीं?'' फुफकारती वार्डन ने फरमान जारी किया।

''क्यों भागती हैं ये लड़कियाँ?'' शम्पा शर्मा ने पूछा।

''कैद... कैद में कौन रहना चाहता है? मुक्ति की चाह में भागती हैं ये।'' रूपा ने जवाब दिया, ''ये रक्षा-गृह नहीं, यातना-गृह है... धन्धा कराती है वार्डन।''

शम्पा शर्मा की आँखें फट गयी थीं। डर देह से होकर आत्मा में फैल गया था। एकदम गुम हो गयी थी वह। उसकी उदासी डर, चुप्पी को रूपा ने लक्ष्य किया, बड़ी बहन की तरह बाँहों में समेट लिया, ''शम्पा, हम यहाँ अपनी खुशी से तो आये नहीं, हमारा कोई नहीं रहा या हम किसी के नहीं रहे। नियति हमारी यही कि हम कहीं के नहीं रहे। हमारा गुनाह यही कि औरत होने की सजा भुगत रहे हम।''

सही कहती है रूपा। बहनापे में बँधी शम्पा शर्मा बड़ी देर तक चुपचाप उसकी बाँहों में सिमटी रही। रूपा उसके बालों में उँगलियाँ फेरती कंघी करने लगी थी।

''बाल काफी उलझ गये हैं।''

''जिन्दगी ही उलझ गयी है, रूपा।'' शम्पा शर्मा की आवाज खोई हुई थी, खुद से गाफिल।

रूपा ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी, कोई आश्वासन नहीं दे सकती। यहाँ आयी हर लड़की की जिन्दगी उलझी हुई है। सुलझने की कोई सूरत कहाँ दिखती है? खुद उसकी जिन्दगी भी तो किसी नामालूम सफर पर है...

रूपा की चुप्पी के बीच शम्पा शर्मा की गीली आवाज ने दस्तक दी, ''मुहब्बत में ये दिन देखने पड़ेंगे, कभी सोचा न था।''

शम्पा शर्मा सिसक पड़ी। दिनों से दबा दुख करवट लेने लगा था। उसके बालों में रेंग रही रूपा की उँगलियाँ ठिठक गयी थीं। वह पलट कर रूपा की आँखों में देखने लगी। रूपा की आँखों में जिज्ञासा थी... सहज उत्सुकता।

''रमेश से मुहब्बत कर बैठी थी। अब जानती हूँ मुहब्बत के नाम पर छली गयी... लेकिन तब तो उसके प्यार में डूबती-उतराती बही जा रही थी। बिना कूल-किनारे की नदी हो गयी थी मैं। दोनों एक ही बस से कोचिंग जाते, एक ही बस से लौटते। आँखों-आँखों में बातें होतीं। ये देखा-देखी कब 'हाय-हेलो' में बदली पता नहीं... नोट्स के लेन-देन से हम एक-दूसरे के करीब आते गये। प्यार के किसी लम्हे में जाने-अनजाने कभी रूठती तो रमेश जान दे देने की धमकी देता, ''शम्पा, तुम्हारे बिना जी नहीं सकूँगा मैं।''

''मेरी शादी किसी और से हो गयी तो?'' मैं उसकी थाह लेती।

वह तड़प उठता। उसके चेहरे पर मायूसियाँ पछाड़ खा रही होतीं, ''शम्पा, ऐसा मत बोलो... तुम मेरे सिवा किसी और की नहीं हो सकती।''

''तुम्हारे घर वाले मानेंगे?''

''तुमने अपने घर वालों से पूछकर प्यार किया?''

मैं 'न' में सर हिलाती और रमेश खिलखिला पड़ता, ''प्यार किया तो डरना क्या?''

रमेश के मासूम चेहरे पर मेरे लिए प्यार उमड़ रहा होता और मैं उसकी आँखों में उतरती जाती। एक दिन माँ ने बरजा था, ''मत जा उस रस्ते, जिसकी कोई मंजिल नहीं।''

माँ से ज्यादा मुझे रमेश पर भरोसा था। रमेश वादा करता, ''साथ जियेंगे... साथ मरेंगे।''

तब जीना तो जीना, मरने की कल्पना भी कितनी रोमानी लगती... लगता, प्यार में मर जाना भी प्यार का ही हासिल है।'' फीकी हँसी होंठो पर रेंग गयी। शम्पा शर्मा ने रूपा के कन्धे पर सर टेक दिया। रूपा उसका सर सहलाती रही।

''उस दिन रमेश का जन्मदिन था। मैंने उसे सुर्ख गुलाब दिया। उसने उस गुलाब को अपने होंठो पर यूँ फेरा जैसे मेरे होंठो को चूम रहा हो। मैं शरमा गयी। उसने सरगोशी में पूछा, ''मेरा बर्थडे गिफ्ट?'' उसकी आँखों में याचना थी। मैंने गहरे प्यार के इजहार में पलकें मूँद लीं। वह दिन रमेश को देखते-महसूस करते बीता। कोचिंग से छूटते ही रमेश मेरे पास आया, ''मेरे दोस्त ट्रीट दे रहे हैं... तुम भी आ रही हो।''

''म-म... मैं कैसे... देर हो जायेगी घर पहुँचने में।'' मेरा असमंजस आड़े आ गया, विरोध कमजोर-सा था।

''मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकती?'' रमेश ठुनका।

''तुम्हारे लिए तो जान भी दे सकती हूँ।'' मैं भी डट गयी।

ऐन इसी वक्त रमेश के दोस्त पास आ गये। ये अमन और दीपक थे। कभी-कभार रमेश के साथ दिखते थे। उनके पीछे एक इनोवा आकर रुकी।

इनोवा चलाने वाले लड़के को नहीं पहचानती थी। लेकिन वह उन तीनों का दोस्त था। सभी इनोवा में सवार हो गये। रमेश ने मेरा हाथ पकड़कर अपने साथ बैठा लिया। थोड़ी घबराहट, थोड़ी शर्म के मारे मैं अपने-आप में सिमटी हुई थी। रमेश ने मुझे खींचकर अपने से सटा लिया। सँभलकर बैठते हुए उसे आँखें दिखायीं तो उसने फुसफुसाकर कहा, ''आई लव यू।''

''कहाँ जा रहे हम?'' मैंने रमेश से पूछा था, लेकिन जवाब अमन ने दिया, ''यहीं पास में जिम्मी का फार्म हाउस है।''

जिम्मी उस लड़के का नाम था, जो इनोवा चला रहा था। जिम्मी ने पीछे मुड़कर देखा तो मैं घबरा गयी। पता नहीं, उसके चेहरे पर क्या था कि मेरा जी धक्क कर गया। उसी धुकधुकी के बीच विरोध जताया, ''रमेश, मुझे नहीं जाना।''

''क्यों?'' रमेश के स्वर में रुखाई थी।

''मुझे कुछ ठीक नहीं लग रहा।'' मेरा मन आशंका से भरा हुआ था।

रमेश के जवाब देने से पहले इनोवा फार्म हाउस में घुस चुकी थी। ऊँची चहारदिवारियों से घिरे इस फार्म हाउस के बीचोंबीच इनोवा एक बड़े-से कॉटेज के सामने रुकी। एकबारगी मेरा दिल धड़क गया, लेकिन मुझे अपने रमेश पर विश्वास था।

''लो भाई आ गये...'' दीपक ने इनोवा से उतरते हुए कहा, ''जिम्मी, तैयारी पूरी है न?''

इनोवा से बाहर आये जिम्मी ने जवाब दिया, ''बिल्कुल तैयारी पूरी है। रमेश बॉस अपने इस बर्थडे को याद रखेगा।''

शम्पा शर्मा अचानक हिचक-हिचक कर रोने लगी। आँसू और आह की जुगलबन्दी से कलेजा चाक हो आया। रूपा चुप थी। माला, सोनी सिलाई क्लास करने गयी थीं। इसी बीच कमरे में रत्ना दाखिल हुई। माहौल गमगीन देख इशारे से पूछा, ''क्या हुआ?''

रूपा ने अपने होठों पर उँगली रखकर चुप रहने का संकेत दिया। रत्ना चुपचाप अपने स्थान पर बैठ गयी। शम्पा शर्मा को रत्ना की उपस्थिति का आभास हुआ। सिर उठाकर देखा। रत्ना उसी की ओर देख रही थी।

''पहले रमेश... फिर जिम्मी... अमन और दीपक। एक-एक कर सबने मेरे जिस्म को नोंचा। मैं चीखती रही और वे अट्ठहास करते रहे। मेरा विश्वास... मेरा भरोसा... मेरा प्यार... एक ही झटके में भयावह दु:स्वप्न में बदल गया था। मैं किसी गहरी अँधेरी सुरंग में गिरती जा रही थी। हर ओर

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आईसेक्ट पब्लिकेशन द्वारा प्रकाशित

सपनों की दुनिया में ब्लैक होल

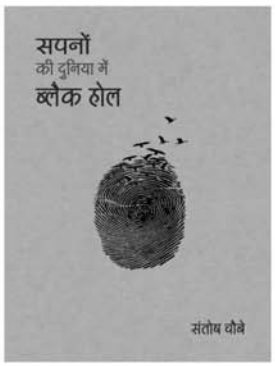

संतोष चौबे

मूल्य ₹ 200/-

तुम जिस दिन गये, उस रात मैंने एक सपना देखा। मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमन-भट्ठी की तरह है जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है– सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल गयी जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में खींचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैकहोल-जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैकहोल में ही परिवर्तित हो गयी और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है, ये दिखना बन्द हो गया...

अँधेरा था, इतना घुप्प और ठंडा कि जिस्म सुन्न पड़ता चला गया। लहूलुहान मेरी आत्मा कराह रही थी, चेतना डूबती जा रही थी। वे मेरे जिस्म पर बारी-बारी चढ़ते और उतरते... मेरी चीख गूँजती हुई मुझ तक लौट आती... मेरा विरोध उनके अट्टहासों में दम तोड़ देता... रमेश ने प्रेम और भरोसे की ओट लेकर मुझे वहशियों के हवाले कर दिया था। मेरी रोती-बिलखती हालत और उनके चंगुल से निकल भागने की फड़फड़ाहट का भी उस पर कोई असर नहीं हुआ।

''रमेश... ये तुमने अच्छा नहीं किया!'' अपनी डूबती चेतना के अन्तिम क्षणों में मैंने उसे कोसा था।

पस्त हो चुके जिस्म और जिस्म में कहीं अटकी रह गयी जान को बेजान समझ वे मुझे हाईवे किनारे फेंक गये थे। किसने पुलिस को खबर दी, पुलिस कब आयी, कुछ पता नहीं। मेरी चेतना लौटी थी, तो मैं अस्पताल में थी। एक लावारिस की मानिन्द। मुझे होश में आया देख सिस्टर ने पुलिस को खबर दी। पुलिस आयी। सब-इंस्पेक्टर रंजना ने पूछा– नाम, पता, घरवालों के बाबत, घटना की जानकारी... कब, क्या, कैसे? मेरी हालत ऐसी न थी कि विस्तार से कुछ बता पाती।

पुलिस ने ही मेरे घरवालों को खबर दी। माँ आयी, भाई-भाभी सभी आये। मेरा हाल देखकर उनके होश उड़ गये। माँ तो बड़ी देर तक गुमसुम रही। बेटी का हाल देखकर अधमरी ही हो गयी थी वह। उसकी आँखों से आँसू अटूट बहे जा रहे थे। लौटती-डूबती मेरी चेतना जैसे पगलाई भँवर में गोते खा रही थी।

कई दिनों की चिकित्सकीय देखभाल के बाद उठने-बैठने और बोलने के काबिल हुई। इस बीच खुद को धिक्कारती... अपने-आप पर तरस खाती और जीने की इच्छा से लड़ती रही। सब-इंस्पेक्टर रंजना रोज आती, बयान लेने की कोशिश करती, लेकिन मेरी हालत और मन:स्थिति देख कर लौट जाती। जिस दिन मैं बयान देने के काबिल हुई, उस दिन सब-इंस्पेक्टर रंजना ने सारा वाकया धैर्य से सुना। एक-एक डिटेल बारीकी से दर्ज की। सब बताया– रमेश, अमन, दीपक, जिम्मी, सबका नाम लिया। हाँ, उस वक्त मैं एक बार फिर उसी त्रासदी से गुजरी। दर्द के दरिया में जख्मी रूह थपेड़े खाती रही।

''शम्पा, रोने से कुछ नहीं होने वाला।'' सब-इंस्पेक्टर रंजना ने समझाया, ''वे अपराधी हैं, उन्हें सजा दिलवाकर ही तुम्हें न्याय मिल सकता है।''

एफआईआर दर्ज करने के बाद सब-इंस्पेक्टर रंजना ने मेरा मेडिकल कराया और धारा 164 के तहत मजिस्ट्रेट के सामने बयान दर्ज कराया। यह सबकुछ हर बार अपने जख्म नोंचने की तरह था। सब-इंस्पेक्टर रंजना मेरे टूटते हौसले को सम्बल देती, ''शम्पा, वे दरिन्दे हैं, उन्हें उनकी जगह दिखाना जरूरी है। तुम साथ नहीं दोगी तो हमारी सारी मेहनत बेकार चली जायेगी।''

''मैं बहुत टूट गयी हूँ... ऐसी कलंकित जिन्दगी का क्या मतलब?'' मैं सचमुच चटखी हुई थी।

''कलंकित जिन्दगी? इसमें तुम्हारा क्या गुनाह है? तुम पढ़ी-लिखी हो... फिर ऐसी बात कैसे कर सकती हो?'' सब-इंस्पेक्टर रंजना थोड़ी अलग टाइप की पुलिसवाली थी। पता नहीं यह उसका पहला केस था, जिससे उत्साहित थी या वह सचमुच स्त्री-दुख के प्रति अतिरिक्त संवेदनशील थी।

सब-इंस्पेक्टर रंजना के संरक्षण में मेरी मजिस्ट्रेट के सामने पेशी हुई। उसी पेशी में माँ ने मजिस्ट्रेट से गुहार लगायी, ''हम शम्पा को अपने घर नहीं ले जा सकते। गाँव वालों ने बहिष्कार की धमकी दी है।''

मजिस्ट्रेट ने रिमांड होम भेजने का आदेश दे दिया था।

''गाँव वाले तुम्हारे खिलाफ क्यों हो गये?'' रत्ना ने हैरानी से पूछा, ''तुम्हारी गलती क्या थी?''

शम्पा शर्मा की सूनी आँखों में दर्द पछाड़े खा रहा था।

लड़कियों के भागने की नाकाम कोशिश की खबर अखबारों में छप गयी थी। रात के आखिरी पहर के सन्नाटे में भी यह खबर कानोंकान गश्त करती आखिरकार पत्रकारों तक जा पहुँची थी। इस खबर के बहाने कुछ अखबारों ने रिमांड होम की कुंडली खोलकर रख दी थी– *लड़कियों के स्वास्थ्य की नियमित जाँच नहीं होती... घटिया भोजन से लड़कियों में बढ़ा कुपोषण... यौन शोषण का भी शिकार हैं लड़कियाँ... देर रात आती हैं लक्जरी गाड़ियाँ... रिमांड होम की वार्डन पर नेताओं का वरदहस्त।*

एक-से-एक सनसनातीं सुर्खियों वाली इन खबरों से रिमांड होम में हाहाकार मच गया था। वार्डन की बेचैनी देख लड़कियों की छाती जुड़ा गयी थी।

रत्ना ने फुसकी ली, ''सब समाचार सच्चा है, लेकिन साला कुछ

होये तब न?''

''बहुत पहुँचवाली है वार्डन। कुछ होने वाला नहीं है।'' रूपा हँसी।

शम्पा शर्मा अब तक रिमांड होम के हालात से परिचित हो चुकी थी। लेकिन अपने साथ हुए हादसे से उबर पाना सम्भव नहीं हो पा रहा था। उस दिन, उस यातना, उस घिन की दु:स्मृतियाँ पोर-पोर में मवाद बनकर टपक रही थीं। जिस्म से हजारों कनगोजर चिपके थे, दिमाग में अंगारे सुलग रहे थे, यहाँ की हर रहवासिन यातनाओं की असमाप्त कहानी थी। उनकी कहानियाँ, इनने सुनीं, उनने सुनीं, सबने सुनीं, लेकिन ये कभी खत्म नहीं हुईं। कोई इन पर 'द एंड' नहीं लगा सका। एक बार फिर इस रिमांड होम की लड़कियों की दास्तानें सुनने के लिए हाईकोर्ट की ओर से नियुक्त महिला वकीलों की एक टीम आ धमकी। इस टीम ने अलग-अलग ग्रुप में इन लड़कियों से कुछ पूछा, कुछ जाना और इस पूछने-जानने के बीच ही अनकही पीड़ाएँ, अनसुनी दस्तानें, अनदेखी दृश्यावलियाँ कौंधती गयीं। युवा वकील अंजलि किशोर तो शम्पा शर्मा की दास्तान सुनकर दंग रह गयी।

''क्या... क्या कह रही हो तुम? तुम्हारे घर वालों को गाँव के दबंगों ने तुम्हें घर न लाने की धमकी दी है? लेकिन क्यों? गैंग रेप की शिकार हुईं तुम... तमाम पीड़ा... परेशानी भुगती तुमने और तुमको ही गाँव में न घुसने देने की सजा?'' अंजलि किशोर बिफर पड़ी, ''कौन है वो दबंग... क्या है उसे तुमसे परेशानी?''

''वो रमेश का बाप है... गाँव का मुखिया... गाँव पर उसी का दबदबा है।'' शम्पा शर्मा की आवाज गले में रुँध गयी थी।

वकील अंजलि किशोर ने शम्पा शर्मा का कन्धा थपथपाकर आश्वास्त किया, ''देखते हैं कौन रोकता है तुम्हें?''

हफ्ते-भर बाद हाईकोर्ट का आदेश आ गया। शम्पा शर्मा को पूरी सुरक्षा के साथ उसके गाँव, उसके घर में रहना सुनिश्चित किया जाये। गाँव रवानगी से पहले रत्ना, रूपा, सोनी सभी ने शम्पा शर्मा के गले मिलकर विदाई दी।

''तुम किस्मतवाली हो... इस नरक से छुटकारा मिला।''

इन लड़कियों के चेहरे पर बुझी राख-सी पुती थी। शम्पा शर्मा की वापसी में वे खुद को ढूँढ़ रही थीं।

शम्पा शर्मा दो सशस्त्र पुलिस जवानों के साथ जिस वक्त गाँव में दाखिल हुई, गाँव की आँखें इतनी चौड़ी हो आयीं कि उनमें आश्चर्य, खौफ, उत्सुकता और उजाला-जैसे तमाम भाव ऊभ-चूभ होते नजर आये। गलियों में गन्दी मुस्कियाँ थिरकीं, दहलीजों पर रसबतियाँ। लेकिन दरवाजों के पीछे चिपकीं आँखों में सहानुभूति और संवेदना उमड़ रही थी। माँ के सीने में नदी हिलकोरे मार रही थी। बेटी को सामने पाकर बुक्का फाड़कर रो पड़ी, मानो चट्टान तोड़कर निकल आया हो दुख का मलबा। भाभी ने अँकवार में भरा तो शम्पा शर्मा का आहत मन विगलित हो आया। भाभी के सीने से लग हिलक-हिलक कर रोयी वह।

''चुप कराओ उसे, नहीं तो तबियत खराब हो जायेगी।'' यह भाई था, हर खौफ से बाहर। अपने दरवाजे पर पुलिस की तैनाती से आश्वस्त।

नहीं... बात सिर्फ इतनी नहीं थी। रमेश की गिरफ्तारी के लिए पुलिस दिन-रात एक किये हुए थी। रमेश के बारे में जरा-सी भी भनक मिलते ही सब-इंस्पेक्टर रंजना के नेतृत्व में पुलिस मुखिया का घर घेर लेती। अन्दर-बाहर धाँग मारती। एक-दो बार तो आधी रात को भी छापेमारी हुई। मुखिया के राजनीतिक आकाओं ने भी हाथ उठा लिये थे, ''रेप का मामला है... प्रेस-पब्लिक सभी गुस्से में हैं... बेहतर हो कि बेटे का आत्मसमर्पण करा दो।''

बेटे के आत्मसमर्पण के नाम पर रमेश की माँ का कलेजा मुँह को आ लगा था। मुखिया की दबंगई की हवा निकलने लगी थी। जिस शम्पा शर्मा को उसने गाँव में न घुसने देने की धमकी दी थी, वही अब तारणहार नजर आने लगी थी। पता नहीं किस मुहूर्त में इल्हाम हुआ था कि बलात्कारी बेटे को शम्पा शर्मा ही बचा सकती है। एक बार... बस एक बार बेटा इस मुश्किल से निकल जाये तो आगे का क्या... हवा को मुठ्ठी में बाँधना कोई मुश्किल नहीं।

''सुनो, मैं मानता हूँ मेरे बेटे रमेश से गलती हुई... जवानी के जोश में होश खो बैठा... जो हुआ उसे बदला नहीं जा सकता। लेकिन तुम्हारी बहन शम्पा का जीवन खराब न हो और रमेश का जीवन भी बर्बाद न हो, यह तो हम कर ही सकते हैं।''

मुखिया के रहस्य-भरे प्रस्ताव को अनबुझ भाव से सुनता रहा था भाई। कहते कुछ न बना था। मुखिया स्वयं बोला था, ''हम चाहते हैं रमेश और शम्पा का ब्याह करा दिया जाये।''

अचानक धरती डोली थी और भाई के होश को चक्करघिन्नी लग गयी थी।

उसे अकबकाया देख मुखिया ने

टोका था, ''क्या कहते हो?''

''मुखिया जी, शम्पा के साथ मुँह काला करने वाला अकेला रमेश नहीं था, उसके तीन दोस्त भी थे।'' भाई के स्वर में निरीह बेबसी थी।

''फिर भी... मैं चाहता हूँ... दोनों बच्चों की भलाई इसी में है।'' मुखिया ने जिद की थी, दलील दी थी।

उस रात फिर पुलिस ने मुखिया के घर में छापेमारी की। रमेश नहीं मिला। रवानगी से पहले सब-इंस्पेक्टर रंजना ने मुखिया को चेतावनी दी, ''बेटे को जल्द हाजिर कीजिये, नहीं तो कुर्की-जब्ती का वारंट ले आऊँगी।''

मुखिया और मुखियाइन दोनों ने हाथ जोड़े, ''मैडम, थोड़ा और समय दीजिए... बस वह खुद हाजिर हो जायेगा।''

''मेरे ऊपर भी प्रेशर है... कप्तान साहब खुद केस मॉनिटर कर रहे हैं। अपोजिशन सरकार को नाकोदम किये हुए प्रेस वाले अलग पीछे पड़े हैं।'' सब-इंस्पेक्टर रंजना ने अपने एसएचओ के लिहाज में नरमी बरती।

''यह मुखिया अपने विधायक जी का खास आदमी है।'' एसएचओ ने केस रिव्यू के दौरान इशारतन समझाया था।

सब-इंस्पेक्टर रंजना चेतावनी देकर चली गयी थी। मुखिया की साँस साँसत में थी। बेटे के समर्पण या गिरफ्तारी का मतलब था जेल खटना, केस लड़ना और फिर भी सजा पक्की। पुलिसिया दबिश के आगे उसकी सारी अकड़ धरी की धरी रह गयी थी। शम्पा शर्मा को गाँव में घुसने न देने पर आमादा वह पहली बार अपनी बीवी के सामने लाचार दिखा था, ''दइब बाम हो तो गधे को भी बाप बनाना पड़ता है।''

पति की अकड़, दबंगई और दर्प को रेत-सा भरभराते देख पत्नी का कलेजा कट कर रह गया था, ''इसी को कहते हैं अपने ही जामे से हारना।''

''कल शम्पा के भाई को बुलाकर बात फाइनल करते हैं।'' मुखिया ने पत्नी के बहाने खुद को आश्वस्त किया था।

भाई ने मुखिया का प्रस्ताव सबके सामने रखा था। एकबारगी जैसे सबको साँप सूँघ गया। बड़ी देर तक सन्नाटा साँय-साँय करता रहा। सारी आँखें शम्पा शर्मा पर टिकी थीं। उत्सुकता, आशंका, याचना– शम्पा उन आँखों से बचने की कोशिश में स्वयं में सिमट गयी थी। प्रेम में सबकुछ हारकर, प्रेमी को इस तरह पाना, यह कैसी परीक्षा है? रूह सदमे में थी, जज्बात सकते में।

''क्या कहती हो, शम्पा?'' भाई ने प्रतीक्षा और चुप्पी की दीवार तोड़ी।

चुप्पी इतनी सख्त थी कि नहीं टूटी। शम्पा शर्मा बुत थी, बेजान-बेजुबान।

''तुम्हारे साथ जो कुछ हुआ है, उसके बाद कौन करेगा तुमसे शादी?'' भाई के स्वर में सवाल-उलाहना-बेबसी एकमेक थी।

''इतना आसान नहीं है यह फैसला।'' भाभी ने भाई को लक्ष्य किया, ''यह एक मौका है कलंक से मुक्ति का। समाज का मुँह बन्द करने का। मुझे यही उपाय उचित जान पड़ता है।'' भाई ने माँ को सम्बोधित किया, ''तुम क्या कहती हो?''

बेटी का मुँह ताकती माँ, भाई का चेहरा देखकर ठसुआ गयी। कोई जवाब नहीं सूझा।

मुखिया के घर की कुर्की-जब्ती का वारंट लेकर दल-बल पहुँची सब-इंस्पेक्टर रंजना के लिए शम्पा शर्मा और रमेश की शादी की खबर हैरान करने वाली थी। विश्वास और अविश्वास के बीच उसका चेहरा बुरी तरह तन गया था। तो मुखिया ने अपने बेटे को बचाने के लिए यह दाँव खेला है? जी में आया कि बिना देरी किये मुखिया के घर की ईंट से ईंट बजा दे। वारंट उसके हाथ में है, फोर्स साथ में है, इससे पहले कि मुखिया को कानून की सरपरस्ती हासिल हो, वह उसका दम्भ तो चूर कर ही सकती है।

''शादी कर रहे तो क्या? आपका बेटा कानून की नजर में गुनाहगार है।'' सब-इंस्पेक्टर रंजना ने निहायत शुष्क स्वर में दो टूक कहा।

''मैडम, क्या आप नहीं चाहेंगी कि दोनों शादी करें। दोनों का जीवन बन जाये। दोनों को कलंक से मुक्ति मिल जाये?'' हाथ जोड़कर निहोरा करती मुखियाइन सब-इंस्पेक्टर रंजना के सामने याचक मुद्रा में खड़ी हो गयी थी।

सब-इंस्पेक्टर रंजना धर्मसंकट में फँसी गलत-सही, नैतिक-अनैतिक, वैधानिक-अवैधानिक-जैसे जाल-जंजाल में उलझ गयी। क्या करेगी शम्पा शर्मा... एक बेचारी लड़की, पहाड़-सा जीवन... कलंकित वर्तमान... शापित भविष्य।

''मैं कैसे मानूँ कि शम्पा शर्मा भी राजी है?'' सब-इंस्पेक्टर रंजना के तेवर ढीले पड़े।

मुखिया ने सब-इंस्पेक्टर रंजना को मुलायम होते देख सुझाया, ''आप चाहें तो उसके भाई से पूछ लें। भाई ही

गार्जियन है।''

सब-इंस्पेक्टर रंजना को सामने पाकर शम्पा शर्मा का साहस लौटा, ''सभी कह रहे, इसी में भलाई है।''

''सभी क्या कह रहे इससे कोई मतलब नहीं, तुम क्या कह रही हो? तुम्हारी जिन्दगी है... तुम्हारा क्या फैसला है?'' सब-इंस्पेक्टर रंजना ने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए पूछा।

इर्द-गिर्द सभी थे। माँ, भाई, भाभी सभी। सबकी निगाहें शम्पा शर्मा पर टिकी थीं। लेकिन शम्पा शर्मा शून्य में बुत थी– बेहिस, बेजान।

भाई को सब-इंस्पेक्टर रंजना की बात नागवार गुजरी थी, उसने हस्तक्षेप किया, ''मैडम, हम जिस समाज में रहते हैं, उसमें दुष्कर्म की शिकार किसी लड़की के लिए कोई जगह नहीं है... उसका कोई खेवनहार नहीं होता।''

''तो?'' रंजना की आँखें भाई के चेहरे पर टँक गयी थीं।

भाई ने लाचारी के लहजे में जवाब दिया, ''यह तो संयोग है कि शम्पा-जैसी लड़की का विवाह हो रहा।''

''शम्पा-जैसी लड़की... मतलब?'' सब-इंस्पेक्टर रंजना ने बात काटी, ''आप भाई होकर ऐसी बात कर रहे जैसे शम्पा ही गुनाहगार हो... शर्म आनी चाहिए आपको।''

''मैडम, भाई ठीक कह रहे हैं। सचाई यही है।'' शम्पा शर्मा ने बात सँभाली।

सब-इंस्पेक्टर रंजना कसमसा कर रह गयी। शम्पा शर्मा की बुझी आँखों की स्याही और चेहरे पर पुती राख ने उसका हौसला पस्त कर दिया। रुखसत होने से पहले उसने शम्पा शर्मा से अन्तिम बार दरयाफ्त किया, ''शम्पा, कानूनन यह सही तो नहीं है, लेकिन जीवन से बड़ा कानून नहीं हो सकता... मैं तुम्हारा फैसला जानना चाहती हूँ।''

सवाल शम्पा शर्मा से था। निगाहें शम्पा शर्मा पर थीं। माँ की आँखों में भयावह सन्नाटा था। भाभी की आँखों में नमी थी। भाई की आँखों में बेकल प्रतीक्षा थी।

''मैं रमेश से मिलना चाहती हूँ... विवाह का यह फैसला उसके मुँह से सुनना चाहती हूँ।'' शम्पा शर्मा ने अपना फैसला देने की बजाय शर्त रख दी।

दो दिनों बाद आया रमेश का सन्देश। वह शम्पा से मिलने को तैयार है। लेकिन शर्त थी कि दोनों अकेले में मिलेंगे। अकेले मिलना मुफीद था। दोनों एक-दूसरे से बहुत कुछ कहना चाहते थे। विवाह से पहले अपना मन साफ करना चाहते थे। अगला-पिछला हिसाब दुरुस्त करना चाहते थे। अकेले मिलने में शम्पा शर्मा को भी कोई आपत्ति न थी। खबर गाँव-भर में फैल गयी। जो कभी नहीं हुआ, वह हो रहा था– अजगुत, अनपेक्षित, अप्रत्याशित। पूरा गाँव आँख-नाक-कान हो गया था। नैतिकता के कुछ पहरेदारों ने जरूर मुखिया के फैसले पर उँगली उठायी, लेकिन मुखिया के सामने उनकी कोई बिसात न थी।

आखिरकार एक ढलती साँझ और उभरते चाँद के बीच ठिठका समय शम्पा शर्मा और रमेश के मिलन का गवाह बना। नयका पोखरा के झिलमिल जल में उतरती चाँदनी और शिवालय के कँगूरे में लहराते धर्मध्वज की उपस्थिति में यह शम्पा शर्मा की कलंक-मुक्ति का मुहूरत था, रमेश शर्मा की दंड-मुक्ति का अनुष्ठान।

रात अभी अपने पाँव जमा भी न पायी थी, कि दरख्तों पर मुकीम परिन्दे डैने फड़फड़ाते हुए परवाज भरने लगे। यह किसी अनहोनी की सूचना थी, किसी अपशकुन का संकेत।

सहमा हुआ गाँव जब तक कुछ समझ पाता, पुलिस ने आनन-फानन गाँव को अपने घेरे में ले लिया। शिवालय की सीढ़ियों पर औंधी पड़ी रमेश की लाश काबू में कर आनन-फानन पोस्टमार्टम के लिए मेडिकल कॉलेज अस्पताल भेज दी गयी।

रमेश कैसे मरा? किसने मारा? अगले दिन इस रहस्य से परदा उठाते हुए पुलिस कप्तान ने प्रेस को बताया, ''शम्पा शर्मा बलात्कार कांड के मुख्य अभियुक्त रमेश की पुलिस को बहुत दिनों से तलाश थी। कई बार उसकी गिरफ्तारी के लिए पुलिस ने छापेमारी की, लेकिन वह पकड़ा नहीं गया। कल रात उसके अपने गाँव में मौजूद होने की सूचना पर, सब-इंस्पेक्टर रंजना के नेतृत्व में फिर छापेमारी की गयी। पुलिस ने उसे आत्मसमर्पण के लिए कहा, लेकिन उसने बचकर भाग निकलने की कोशिश में पुलिस पर फायरिंग कर दी। पुलिस ने भी जवाबी फायरिंग की, जिसमें रमेश मारा गया।''

प्रेस कॉन्फ्रेंस में मौजूद सब-इंस्पेक्टर रंजना ने होलस्टर में रखी अपनी पिस्टल को थपथपाया जैसे उसके होने की आश्वस्ति कर रही हो।

शम्पा शर्मा की हथेलियों में बारूद की गन्ध अब भी मौजूद थी। लेकिन वह थी कि उस गन्ध को छुड़ाने का कोई उपक्रम नहीं कर रही थी।

मो. 8877614421

वनमाली जयन्ती के उपलक्ष्य में

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

का **अगस्त 2023** अंक

भारतीय कहानी के

10

मास्टर माइंड

● रवीन्द्रनाथ टैगोर (बांग्ला) ● फकीरमोहन सेनापति (ओड़िया) ●
● अमृता प्रीतम (पंजाबी) ● वाजिदा तबस्सुम (उर्दू) ● गंगाधर गाडगिल (मराठी) ●
● डी. जयकान्तन (तमिल) ● वाइकम मुहम्मद बशीर (मलयालम) ●
● यू. आर. अनन्तमूर्ति (कन्नड़) ● विजयदान देथा (राजस्थानी) ●

और

● वनमाली (हिन्दी) ●

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

घर के किसी भी काम के बारे में आपसे कुछ भी पूछा नहीं जाता है। आप खुद भी किसी से कुछ भी पूछने का साहस नहीं बटोर पाते। घर के लोग आपकी सुनना नहीं चाहते और बाहर के लोगों की आपमें दिलचस्पी खत्म-सी हो जाती है।

जयशंकर

बुढ़ापा

वे टॉयलेट से लौटे थे। वहाँ से उनके कमरे तक के बीच छोटा-सा गलियारा था। उन्होंने खिड़की से अपनी पत्नी के कमरे में झाँका। वह जागी नहीं थी। फ्रिज के पास आकर उनकी निगाहें रसोई पर ठहर गयीं। उन्हें लगा कि वे गैस के सामने खड़े हुए दूध गरम कर रहे हैं। वे सुबह की सैर से लौटते वक्त मदर डेयरी से दूध का पैकेट लेते और घर आते ही उसे गरम करने के लिए किचन में जाते। उनके बीमार पड़ जाने के दिन तक यही होता रहा था। वहीं खड़े हुए उन्हें मदर डेयरी की याद आयी, उसके करीब के ओल्ड पार्क की और उन लोगों की भी जिनको कभी-कभार वे पार्क की घास पर बैठकर सुना करते थे।

एक लम्बा अरसा बीत गया और वे अपने घर से कहीं भी अकेले नहीं गये। पैदल नहीं गये हैं। वे अपने बिस्तर पर लौट आये। उनकी बायीं तरफ के कमरे में उनका बेटा और बहू सोये हुए थे और सामने के कमरे में उनकी नातिन और नाती। इसी कमरे में कभी वे अपने छात्रों को पढ़ाया करते थे। वहीं कभी स्कूली डेस्क रखे हुए होते थे और उनकी पढ़ने-लिखने की मेज के किनारे उनका अपना छोटा-सा पुराना दीवान। वे अपने दीवान पर लेटे रहते और खिड़की से उन्हें नागचम्पा का पेड़ नजर आता रहता। वह नागचम्पा का ही पेड़ था, जिसके नीचे खड़े हुए अलीबाग में उन्होंने पुराने जजीरे को देखा था। अलीबाग के उन दिनों को बीते हुए सैंतीस साल से भी ज्यादा वक्त हो गया। उन्हें लगा कि उनके देखते-देखते उनके अपने घर में, उनके अपने जीवन में कितना कुछ बदल गया हो। धीरे-धीरे वे कितने निकम्मे, फालतू, अकेले और बूढ़े होते चले गये हैं।

यह और यही तो सबके साथ होता है। एक वक्त आता है, जब अचानक आप पाते हैं कि आपका जमाना बीत गया है। आप एक कोने में पड़े हुए अपने आसपास को देखते रहते हैं और आपका आसपास बिना आपकी भागीदारी के चलता रहता है, बढ़ता रहता है। घर में दूध आता रहता है। उसे गरम किया जाता है, लेकिन इन सबमें आप कहीं नहीं होते। सबकुछ आपके बिना भी पहले की तरह ही चलता रहता है।

घर के किसी भी काम के बारे में आपसे कुछ भी पूछा नहीं जाता है। आप खुद भी किसी से कुछ भी पूछने का साहस नहीं बटोर पाते। घर के लोग आपकी सुनना नहीं चाहते और बाहर के लोगों की आपमें दिलचस्पी खत्म-सी हो जाती है। फिर आपकी देखभाल के लिए किसी को रख दिया जाता है, लेकिन वह भी आपकी उतनी नहीं, उस व्यक्ति की बात सुनता है– जिससे उसे अपनी तनख्वाह मिलती है। यह सब और ऐसा ही सबकुछ, वे ओल्ड पार्क में सैर के लिए आते बूढ़ों से सुना करते थे। उस वक्त उन्हें उन बूढ़ों की शिकायतें बेमानी महसूस होती थीं। अब वे अपने बुढ़ापे को जी रहे हैं।

ओल्ड पार्क के उन बूढ़ों को सुनते वक्त वे सोचा करते थे कि उन पर ऐसा कोई वक्त नहीं आना चाहिए, जब दूसरे उनके साथ किसी लाचार, दयनीय और कमजोर आदमी की तरह व्यवहार करने लगें। वे अपनी आखिरी साँस तक अपने स्वाभिमान के साथ जीना चाहते थे, पर यह न हो सका। रिटायर होने के दूसरे साल में ही उनको दिल का जबरदस्त दौरा पड़ा। यही कम नहीं था, आँखों में मोतियाबिन्द भी उतर आया था। दोनों आँखों का ऑपरेशन करवाया गया, लेकिन आँखों में पुराने दिनों की रोशनी नहीं लौट पायी। अब एक कमरा है या सिर्फ एक दीवान, जिस पर उनका ज्यादातर वक्त बीतता है। वक्त क्या बीतता है, वे बीतते जा रहे हैं।

कभी-कभार अपने मकान के पड़ोस के पुल से गुजरती ट्रेन की आवाजों से उनके भीतर यह सवाल उतर आता है कि उन्हें भी ट्रेन में बैठ कर कहीं के लिए निकल जाना चाहिए। कभी उनके साथ यह भी हुआ करता था। वे चौबीस-पचीस के रहे होंगे। पोस्ट ग्रेजुएट हो जाने के बाद वे बेरोजगार थे। उनका जीवन कहीं से और किसी से भी बँधा नहीं था। ऐसे दिनों में वे कभी-कभी ट्रेन की आवाजें सुनते, नानी से कुछ रुपये माँगते और पूना के आस-पास के किसी इलाके में कुछ दिनों के लिए चले जाते। उनके पास पैसे थोड़े होते थे और वक्त ज्यादा। इसीलिए वे पैसेंजर ट्रेन की यात्राएँ किया करते थे। नानी को उनकी कुछ दिनों की सनक, ऊब और उत्सुकता का हल्का-सा अनुमान रहने लगा था और उनके घर से निकलते वक्त पैसों के साथ-साथ उन्हें वह डिब्बा भी पकड़ा देतीं, जिसमें चिवड़ा होता था या शकरपारे, जो यात्रा के वक्त बहुत काम आया करते थे। इसी तरह की सनक उन्हें उन दिनों में अलीबाग तक ले गयी थी। वे सर्दियों की शुरुआत के दिन थे और बम्बई से अलीबाग तक स्टीमर से गये थे।

बम्बई के समुद्र से स्टीमर छूट रहा था और वे छूटते हुए शहर को, स्टीमर पर झपटते हुए पक्षियों को, कोंकणी आवाजों को, अखबार पढ़ती हुई एक युवा लड़की को देख-सुन रहे थे। तब छोटी-छोटी चीजें कितना ज्यादा प्रभावित किया करती थीं! जब जीने की निष्ठा अपनी ऊँचाइयों पर होती थी और मन बहुत कम समय तक और कभी-कभार ही मनहूस बना रहता था। और अब उनका मन हमेशा ही मृत-सा पड़ा रहता है। मनहूस-सा बना रहता है। मरने की तरफ देखता हुआ मन, जीने को जंजाल समझता और उससे जी चुराता हुआ मन।

इस कमरे की खिड़की सड़क पर नहीं, सँकरी, पुरानी और अँधेरी गली में खुलती है। गली अक्सर सूनी पड़ी रहती है। उन्हें रसोई से जुड़े हुए कमरे में रखा गया है, ताकि रसोई में काम करते-करते भी उनकी जरूरतों को देखा जा सके, सुना जा सके। इस तरह उनकी तकलीफों को बराबर और ठीक तरह से जाना जा सकता है, पर जानना एक बात है और समझना दूसरी बात। कुछ लोग जानते ही नहीं हैं। ऐसे लोगों में उनका बेटा आता है, उनकी पत्नी और बहू भी।

अब उनकी जरूरतों को उनका ही परिवार कितना कम समझ पाता है! उनके लिए ताजे और तरह-तरह के फल आते हैं, एक डॉक्टर बराबर उन्हें देखने आता रहता है। अब भी उनके कपड़े लॉण्ड्री में धुलकर आते हैं। उनके सामने रंगीन टेलीविजन रखा गया है। एक नर्स उनकी ही देखभाल के लिए कुछ घंटों के लिए रोज आती है। उनकी पत्नी पूजा करने के बाद सबसे पहले उन्हें ही प्रसाद देती है। उनके लिए इतना कुछ और इतनी अच्छी तरह किया जाना उन्हें अच्छा भी लगता है, लेकिन इन सबके बावजूद यह चीज उन्हें अखरती है कि घर का एक भी आदमी उनके पास

जरा-सी देर के लिए भी नहीं बैठता है। सब अपने कामों में व्यस्त रहते हैं और सिर्फ वे ही निकम्मे बने रहते हैं। अपना इस तरह से निष्क्रिय, फालतू और अकेले, बेबस और बूढ़े होना उन्हें दुख देता है, आत्मदया में डुबाता है।

एक वर्ष भी नहीं हुआ जब रिटायर होने के बाद भी वे छात्रों को पढ़ाते थे, खुद पढ़ते थे। अब न पढ़ना होता और न पढ़ाना। बीच-बीच में उनकी बिटिया आती है और वही उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ कर सुनाती है। यही लड़की अब भी इस बात का जिक्र करती है कि कभी वे शेक्सपियर को कितना ज्यादा पढ़ा करते थे और कितना अधिक पसन्द किया करते थे! वह आती है तब उनकी किताबों की अलमारी खुलती है। अलमारी की ज्यादातर किताबों को उन्होंने अपने मुश्किल दिनों में खरीदा था और अपने बेहतर दिनों में पढ़ा था। इनमें ज्यादातर किताबें पूना के सेकेंड-हैंड किताबों की दुकानों में देर-देर तक भटकते हुए वर्षों पहले खरीदी गयी थीं।

जब वे पन्द्रह के रहे होंगे तब उनकी माँ भी नहीं रहीं। पिता उनके बचपन में ही नहीं रहे थे। पन्द्रह की उम्र के बाद उनका जीवन अपने नाना-नानी के यहाँ एक दूसरे शहर में शुरू हुआ। नाना-नानी के रहते उनकी पचीस वर्ष तक की जिन्दगी ठीक-ठाक रही। वे लगातार पढ़ते रहे, यात्राएँ करते रहे, नाना-नानी की देखभाल करते रहे, लेकिन उन लोगों की मौत के बाद बहुत-कुछ बदलने लगा। अपनी जीविका चलाने के लिए वे अँग्रेजी के एक दैनिक अखबार में पार्टटाइम रिपोर्टर हो गये। उन्हें शहर में हो रहे खेलों की रिपोर्टिंग का काम सौंपा गया। उन्हीं दिनों में फुटबाल के विश्वस्तर के मैचों की रिपोर्टिंग करने के लिए उन्हें कलकत्ता जाना पड़ा था और वहीं की खाली दुकानों में किसी पब्लिक लाइब्रेरी के भीतर अपना समय गुजारते हुए उन्होंने अध्यापक बनने का फैसला किया था।

अन्ततः वे अध्यापक बने और बेहतर अध्यापक साबित हुए। गणित के बहुत बढ़िया टीचर की हैसियत से उनकी ख्याति फैलती ही गयी।

इलाके की शारदा लाइब्रेरी को बनाने और बढ़ाते चले जाने के लिए भी वे निरन्तर प्रयत्न करते रहे थे। वे जब तक सक्रिय रहे, लाइब्रेरी में अलग-अलग विषयों के विद्वानों के व्याख्यान होते रहे। लाइब्रेरी की छत पर संगीत-सभाएँ और नाटक होते रहे और गर्मियों में बच्चों के लिए उनकी ही कोशिशों से तरह-तरह के वर्कशॉप्स का आयोजन होता रहा था।

अपने बारे में उन्हें लगता रहा कि वे बहुत पहले से बेहद भावुक रहते आये हैं। बचपन में ही अनाथ हो जाना, इसके पीछे कारण रहा होगा। माँ और पिता के बिन पराये शहर में नाना-नानी के घर में बीते जीवन के बहुमूल्य वर्ष। धीरे-धीरे ऐसी किताबें भी उनकी आत्मा का अंश बनती गयीं जिनमें गहरी भावनाएँ थीं। टामस मान की कुछ कहानियों में रची-बसी उदास और विराट भावनाओं को जब कभी वे छूते थे तो सोचा करते थे कि ऐसी कहानियों को लिखते हुए टामस मान ने खुद कितना सहा होगा! कहानियों को लिखने के क्षणों में कितनी व्याकुलता और विषाद रहा होगा! उन्हें यह भी लगता रहा कि उनकी भावनाएँ ही हैं, जो उन्हें अपने भरे-पूरे परिवार के बीच भी अलग-थलग बनाये रहती हैं। आखिर उनके लड़के ने क्या नहीं किया है? कितना सारा रुपया उनके इलाज और उनकी देखभाल के लिए खर्च हो रहा है, कौन करता है आजकल इतना सब! उनके पास इतना रुपया भी नहीं है कि कोई उन रुपयों की लालच में इतना सब करे। पर एक दिन भी नहीं जाता, जब उन्हें यह

आईसेक्ट पब्लिकेशन

सपने सोने नहीं देते
शशांक
मूल्य 375 रु.

शशांक की चिंताओं में कहानी, कविता, नाटक, वैचारिक गद्य, राजनीति, पत्रकारिता, इलेक्ट्रॉनिक माध्यम और सबसे बढ़कर- मानवीय संबंध- सभी शामिल हैं, लेकिन पुस्तक का अधिकांश हिस्सा कहानी और गद्य, उसमें बनने की प्रक्रिया, मूल्य और उनकी सार्वभौमिकता तथा स्वयं लेखक के बनने की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। उसमें दोस्तों, सहयोगियों, सहकर्मियों और सह-रचनाकारों को साथ लिया गया है और जैसे उनसे टकराकर विचार की किरणें वापस लौटती हैं, नये अर्थों को उद्भासित करते हुए।

ख्याल नहीं आता है कि घर का कोई भी आदमी पाँच मिनट के लिए भी उनके पास नहीं बैठता। उनका लड़का भी यह जानना नहीं चाहता कि उनके साथ क्या हो रहा है!

उनकी लड़की आती है, उनसे बातें करती है, उन्हें कुछ-कुछ पढ़ कर सुनाती है, उन्हें गली में आरामकुर्सी पर बिठा कर उनकी पसन्द का कोई कैसेट टेप पर लगाती है और ऐसे में दिन उनके लिए थोड़े-बहुत सहनीय हो जाते हैं। तब उनके मन में आता है कि उन्हें अपने बाकी बचे वर्षों के लिए अपनी लड़की के पास रहने के लिए चले जाना चाहिए। लड़की चली जाती है और उसके साथ-साथ यह ख्याल भी। इस ख्याल की जगह यह सवाल ले लेता है कि अगर ऐसा किया तो उनके लड़के की कितनी बदनामी होगी! समाज के लोग क्या-क्या नहीं सोचेंगे! फिर से उन्हें इस बात पर गहरा सन्देह होता है कि इस घर के अलावा किसी भी घर में वे एक दिन भी रह सकेंगे?

बीमारी और बोरियत के इन दिनों में उन्होंने जाना है कि अकेलापन क्या होता है? बुढ़ापे का बोझ किसे कहते हैं? आदमी से बात करने का सुख क्या होता है और क्या होता है स्वस्थ होना? किसी की भी मदद के बिना जीवन बिताना। वे बिस्तर पर लेटे रहते हैं, सोचते रहते हैं, चिन्ताओं से घिरते चले जाते हैं और उनकी पत्नी घर के काम करती रहती है। वह गमलों में पानी डालती है। तारों पर सूखने के लिए गीले कपड़े डालती है, सामने आये लोगों से सब्जियाँ और मिर्च-मसाले खरीदती रहती है और तब उन्हें अपना बिस्तर पर होना अखरता है। पत्नी अब भी लाइब्रेरी जाती है। मन्दिर के लिए निकलती है, घर की हर बात का फैसला लेती है और एक वे हैं, घर के कोने में ऐसे पड़े रहते हैं, जैसे वे जीवित ही नहीं हैं। जैसे उन्होंने इस घर के लिए कुछ किया ही नहीं है।

इस तरह जब वे बुढ़ापे, बीमारी और बोरियत की अपनी विराट विवशता के बीच होते हैं, तब कभी-कभी उन्हें अपनी नानी की याद आती है। तब नाना भी नहीं रहे थे। नानी बिस्तर पर चुपचाप लेटी रहती थीं और वे उनको अकेले छोड़कर बाहर घूमते रहते थे। उन दिनों क्षण-भर के लिए भी उनके मन में यह नहीं आता था कि एक दिन ऐसा भी आयेगा जब वे उन सब बातों को सहेंगे, जिन्हें उस वक्त नानी सह रही थीं और वे जरा-सा भी समझ नहीं रहे थे। बुढ़ापे की लाचारी का एहसास बूढ़े होने पर ही पता चलता है। अब उन्हें अपनी नानी की व्यथा समझ में आती है। समझ में आता है, नानी की उन सूनी-सूनी आँखों का अर्थ, जो छत पर टिकी रहती थीं। अब नानी के बारे में सोचते हुए उन्हें पीड़ा मिलती है और पछतावा भी।

कितना अजीब है कि जब जीवन का थोड़ा-बहुत अर्थ खुलने लगता है, जब जीने की थोड़ी-सी तमीज और समझ आती है– तब तक अच्छी तरह से जीने के लिए, अपनी भूलों को सुधारने के लिए जीवन ही नहीं रह जाता। आप अपने समझे हुए को जी नहीं पाते हैं और आप किसी को यह बताने के काबिल भी नहीं रह पाते कि आपने अपने जीवन को गलत ढंग से जिया है। आपने खुद अपने जीवन को नष्ट किया है, अपने जीने का नर्क खड़ा किया है। और अगर आप बताने के काबिल भी रहें तो किसी के भी पास आपको सुनने के लिए फुरसत नहीं रहती। आपकी जिन्दगी में किसी की भी, जरा-सी भी दिलचस्पी नहीं रहती।

इन सब एहसासों और अनुभवों के बीच वे ऐसा भी सोचते रहते हैं कि बुढ़ापे में यह सब सिर्फ उनके साथ ही नहीं हो रहा है और पहली बार भी नहीं हो रहा है। सदियों से इस संसार में बुढ़ापा विवश, विकराल और विषादमय ही रहता आया है। यह सब बढ़ी हुई उम्र का तकाजा है। थकी हुई देह की नैसर्गिक नियति। सब इन तकलीफों से गुजरते हैं, इन तनावों को सहते हैं, प्रकृति की इस लीला को समझते हैं, ईश्वर के ऐसे इरादों को जीते हैं।

इस तरह का सोचना उन्हें तसल्ली देता है। कभी-कभी यह सब सोचते हुए बरबस ही वे बिस्तर से उठते हैं और अपनी पुस्तकों में से एक पुरानी-सी पुस्तक निकालते हैं। कविताओं की इस किताब को कभी उन्होंने पूना की किसी दुकान से खरीदा था। इस किताब को पढ़ना और पढ़ते रहना पिछले एक वर्ष में, उन्हें गहरी तसल्ली देता रहा है। गहरा सुख देता रहा है।

वे वहीं अलमारी के पास खड़े हुए, खिड़की से आती हुई रोशनी में अपनी कमजोर आँखों से कविताओं को पढ़ते रहते हैं और खिड़की के करीब खड़ा हुआ तुलसी का पुराना पौधा उन्हें देखता रहता है, उनके आनन्द से ईर्ष्या करता रहता है। अक्सर यह दोपहर का कोई क्षण रहता है। हमेशा यह तसल्ली का क्षण होता है।

मो. 9425670177

मैं तुमसे चिढ़ती थी, उकता जाती थी, थक जाती थी। दिन-भर एक साँस लेते बुत के सामने बैठी रहती। बैठी रहती और बस, बैठी रहती। सोचती, बस आज आखिरी दिन है। कल से नहीं आऊँगी। यह जॉब है या यातना! तुम मेरे कमरे में होते, मैं यातना शिविर में।

ज्ञानप्रकाश विवेक

बन्धक

बहुत दिन हो गये थे मुझे तुम्हारे घर आते हुए। वो घर कहाँ था, बड़ा-सा कमरा था। बड़े-बड़े-से कमरे में मैं जब एंटर करती तो तुम कुर्सी पर बैठे होते। चुप, भौंचक, खामोश। कमरे की किसी दीवार को देखते हुए। तुम्हारे और कमरे की किसी दीवार के बीच जैसे कोई वार्तालाप हो रहा हो, जिसे न सुना जा सकता हो, न महसूस किया जा सकता हो।

मैं गुडमॉर्निंग कहती। तुम दीवार को देखते रहते। मैं एक खाली पड़ी कुर्सी को थोड़ा खींचती। आवाज-सी उठती। तुम बेपरवाह-से दीवार को देखते रहते। मैं कुर्सी पर बैठ जाती। तुम दीवार को देखते रहते।

दीवारों को देखना तुम्हारा सबसे जरूरी काम होता और बेबसी की चट्टान का बोझ उठाये रखना मेरा जरूरी काम। तुम सबसे ज्यादा व्यर्थ, मैं सबसे ज्यादा बेबस।

पहले मैं गेट खोलती, बन्द करती, फिर तुम्हारे कमरे का दरवाजा खोलकर दाखिल होती। सबसे पहले मेरी तुम पर नजर पड़ती। कई बार मैं दरवाजे के पास खड़ी तुम्हें देखती रहती। मन ही मन कहती– 'बेचारा।' अपने मन में कही गयी

बात तुम कैसे सुनते! तुम तो ऊँची आवाज को इग्नोर करते। मेरी गुडमॉर्निंग तुम तक पहुँचती, पर तुम सुनते कहाँ थे! लेकिन मेरी आदत थी। आदत के अन्दर एक मटमैली-सी उम्मीद भी थी कि शायद मेरे अभिवादन का तुम कोई उत्तर दोगे। पर कहाँ? तुम तो अबूझ प्रश्नों में घिरे होते। वो प्रश्न जो शायद थे ही नहीं। अगर थे तो पता नहीं क्या थे! कई बार लगता, तुम कोई कोलम्बस हो। किसी नये जजीरे की तलाश में भटक रहे हो।

बहुत बेचारे लगते थे तुम। सच कहूँ! मासूम लगते थे तुम। तुम कुर्सी पर बैठे होते। मुझे लगता, तुम प्रैम में बैठे हो। बच्चों-जैसे। मैं तुम्हें देखती रहती, तुम जोगियों-जैसे लगते। जिन्दगी के आात डेरे पर धूनी रमाये।

मैं चाहती तुम मेरी तरफ देखो। मेरी तरफ देखते हुए मुझसे बात करो। कोई भी बात। दो दिन पहले सब्जी काटते हुए, मेरी उँगली कट गयी थी, बहुत खून निकला। माँ ने पट्टी बाँधी। मैं उँगली में बँधी पट्टी को देखती रही। मैं चाहती थी तुम मेरी उँगली को देखो, पूछो– ''कैसे हुआ?''

एक दिन तुम गिर पड़े थे। कुर्सी पर बैठे-बैठे भी कोई गिरता है भला! लेकिन तुम गिरे। मैं हैरान रह गयी। तुम बिलकुल मेरी कुर्सी के पास गिरे पड़े थे। फर्श पर कालीन था। तुम्हें चोट नहीं लगी थी, लेकिन तुम्हारे गिरने से मेरे दिल पर चोट जरूर लगी थी। मैंने खुद को धिक्कारा था। मैंने इडियट कहा था। तुम्हें नहीं, अपने आपको। मैंने तुम्हें उठाया था। न उठाती तो तुम वहीं पड़े रहते। तुम तो ऐसे अव्वल दर्जे के फकीर थे जिसके लिए कुर्सी क्या, कालीन क्या!

मुझे उठाने में दिक्कत आयी थी। तुम्हारा गठा हुआ जिस्म और तुम पौने छह इंच ऊँचे। गोरे-चिट्टे, खूबसूरत। बहुत मशक्कत के बाद मैं तुम्हें वापस कुर्सी पर बिठा पायी थी। बिठाया नहीं था, गिराया था।

तुम कुर्सी पर ऐसे विराजमान थे जैसे तुम्हारे साथ कुछ हुआ ही न हो, लेकिन मैं! किसी पराजित सेनापति जैसी। मेरे सामने, मेरी उपस्थिति में तुम गिरे थे। मैं भौंचक-सी देखती रही। तुम्हें सच बताऊँ, मैंने कभी सोचा ही नहीं था कि कुर्सी पर बैठे-बैठे तुम अचानक गिर पड़ोगे। जरूर तुम्हें नींद आ गयी होगी कुर्सी पर बैठे-बैठे।

मैंने पूछा था, ''चोट तो नहीं लगी?''

तुमने कोई जवाब नहीं दिया था। अगर यही सवाल तुम मुझसे पूछते तो मैं कहती कि हाँ मुझे चोट लगी है। तुम्हारा गिरना जैसे मेरा पराजित होना हो।

मैं तुमसे चिढ़ती थी, उकता जाती थी, थक जाती थी। दिन-भर एक साँस लेते बुत के सामने बैठी रहती। बैठी रहती और बस, बैठी रहती। सोचती, बस आज आखिरी दिन है। कल से नहीं आऊँगी। यह जॉब है या यातना! तुम मेरे कमरे में होते, मैं यातना शिविर में।

अगले दिन, सुबह-सवेरे फिर तैयार होने लगती। नहीं जी, बिलकुल भी नहीं। मुझे सैलरी का लालच बिलकुल भी नहीं था। यूँ सैलरी भी ठीक-ठाक थी। पचास हजार प्लस कन्वेंस चार्जेज। कुल पचपन, साठ हजार। यह जॉब मुझे एक रिक्रूटमेंट एजेंसी की मार्फत मिली थी। पहले महीने तो उन्होंने अपने सर्विस चार्जेज मुझसे ले लिये थे। अपायंटमेंट लैटर इशू किया था। यह सख्त निर्देश था कि अगर मेरी पूअर सर्विस होगी तो बिना किसी नोटिस के मुझे बाहर कर दिया जायेगा। तुम्हारे और मेरे बीच कोई तीसरा था ही नहीं तो फिर कौन बताता कि मेरी सर्विस कैसी है? हकीकत यह थी कि अगर किसी दिन किसी कारण रिक्रूटमेंट एजेंसी वाले मुझे निकाल भी देते तो ऐसी जॉब के लिए उनको कौन मिलता!

एक मेड ने बताया था कि स्पीच थैरेपी, बिहेवियर थैरेपी, फिजिकल थैरेपी के लिए अलग एक्सपर्ट आते रहे और छोड़-छाड़कर जाते रहे।

मुझे तो चार महीने हो गये थे। नहीं, चार नहीं पाँच, बल्कि साढ़े पाँच। इन साढ़े पाँच महीनों में मेरा काम दाखिल खारिज का था। मैं सुबह तुम्हारे कमरे में दाखिल होती, पाँच बजते मैं वापस जाने की तैयारी करने लगती। इस बीच एक मेड आती, उसके साथ एक गार्ड भी होता। दोनों मिलकर तुम्हें कार में बिठाते। कहीं ले जाते। वो क्षण मेरी हैरानी से ज्यादा मेरी व्याकुलता के क्षण होते। मैं कातरभाव से देखती रहती। तुम्हें कार में बिठाकर वो जाने कहाँ ले जाते!

बेशक करती मैं कुछ भी नहीं थी। शुरू में मैं तुम्हें न देखने-जैसा देखती, न देखते हुए देखती, न चाहते हुए देखती। तुम जिस बहुत बड़े सुसज्जित कमरे में होते वो संवादहीन कमरा शब्दों की भीख माँगता प्रतीत होता। ऐसा लगता जैसे कमरे के बीचोंबीच कोई अदृश्य-सी गूँगी तार टँगी है और उस पर मैले सन्नाटे के कपड़े सूख रहे हैं।

कुछ दिन तो मैं हैरानकुन नजरों से कमरे को देखती रहती। एक शेल्फ

था, शेल्फ के पास टीवी, किताबें, पेन, थर्मस। थर्मस में चाय होती, दूसरे थर्मस में पानी। दो कप, दो गिलास, दो चम्मच, दो हम। मैं और तुम। हर बार बिस्कुट का पैकेट भी होता।

एक दिन तुम्हारी खाँसी टूट गयी थी। तुम खाँसते जा रहे थे। मैं देखती रही, फिर झटपट उठी, थर्मस से पानी निकाला, तुम्हारे हाथ में गिलास देने लगी। कितनी बेवकूफ थी मैं! तुम क्या गिलास पकड़ते? मैंने दोनों हाथों से तुम्हारा मुँह खोला, गिलास मुँह से लगाया, तुमने थोड़ा-सा पानी पीया। तुम्हारी खाँसी थम गयी थी, इसके बावजूद मैंने प्लेट में रखा शुगर क्यूब उठाया और तुम्हारे मुँह में ठूँस दिया।

तुमने पहली बार मुझे देखा, पहली बार। पाँच महीने गुजर जाने के बाद तुमने मुझे देखा, देखते रहे जैसे पूछ रहे हों– 'मैं कौन हूँ? कब आयी? कैसे आयी? क्यों आयी?'

तब तक मेज पर पड़े छोटे तौलिये से मैं तुम्हारा मुँह साफ कर चुकी थी। मैंने मन ही मन कहा– 'मिस्टर हैंडसम!' शुरू-शुरू में मैं तुम्हें मिस्टर बेचारा कहती थी, कितनी गलत थी मैं, कितनी बुरी!

मैं तुम्हारी खाँसी को याद कर रही थी। कितना बेबसी से भरा था तुम्हारा खाँसना। ऐसे लगता था जैसे तुम खाँसी में रो रहे हो या अपने रोने में खाँस रहे हो। खाँसी तुम्हारी भाषा थी जिसे कोई नहीं समझ सकता था, जिसे मैं तो समझ सकती थी।

मैंने मन ही मन तौलिये से तुम्हारा मुँह पोंछते हुए कहा था– 'हैलो मिस्टर हैंडसम!' तुमने फिर मुझे देखा था। मैंने जो बात अपने मन से कही थी, वो तुमने सुन ली हो जैसे।

दीवारों को देखने की तुम्हारी बहुत पुरानी आदत थी। दीवारों को तुम अब भी देख रहे थे, लेकिन दीवारों को देखने का जरूरी काम छोड़कर तुम मुझे भी देख लेते।

उस दिन तुम मुझे अच्छे लगे थे।

तुम हमेशा सफेद पैंट-कमीज में होते। ये सफेद ड्रेस तुम खुद पहनते हो या तुम्हें कोई पहनाता है– मैं सोचती रहती। सर्दियों में कोट, स्वेटर और मफलर।

तुम्हारी सफेद ड्रेस। कई बार तुम नेवल ऑफिसर लगते तो कई बार टेनिस खिलाड़ी। रेलवे के गार्ड भी लगते थे कभी-कभी, लेकिन तुम्हारे हाथ में न हरी झंडी होती न मुँह में सीटी।

पता नहीं क्या बात थी तुम्हारे अन्दर कि मैं तुम्हें देखती रहती और तसव्वुर करती रहती।

तुम्हारी खामोशी जितनी सुन्दर थी, उतने सुन्दर तुम। शायद तुम्हारी खामोशी ने तुम्हें सुन्दर बनाया हो। प्रार्थनाओं-जैसे तुम और बन्दगी-जैसी तुम्हारी खामोशी।

शुरू के दिन कितने जटिल थे– उबाऊ, थकाऊ, पकाऊ। मैं तुम्हारे सामने तुम्हारे कमरे में बैठी रहती, तुम किसी अज्ञात दुनिया में गुम। तुम दिन-भर चुप रहते, तुम्हें कुछ भी न होता, मैं दिन-भर चुप रहती और थक जाती।

एक खराब बात बताऊँ, तुम्हारी नहीं अपनी खराब बात। मैं तुम्हारे सामने बैठी थी। मैंने सोचा कुछ करूँ कि तुम्हारा ध्यान टूटे, तुम मेरी तरफ देखने लगो।

मैं अपना पसन्दीदा गाना गाने लगी– 'ओ मेरे दिल के चैन, चैन आये मेरे दिल को दुआ कीजिये।' यही एक मिसरा मैं बड़े मन से, बड़ी लय के साथ गाती रही। चार बार, पाँच बार, छह बार, फिर मैं थक गयी। आवाज खराशजदा हो गयी, मैं गमजदा और आँखें नम।

मैं सोचने लगी, किस पत्थर के बुत में स्पन्दन ढूँढ़ रही हूँ। भाव, विभाव, अभाव– कुछ भी तो नहीं इसमें।

मैं उठी, तुम्हारे सामने आकर खड़ी हुई। एक जोर का थप्पड़ मारा मैंने तुम्हारे बायें गाल पर। एक हल्की-सी जुम्बिश हुई बस, तुम ऐसे बैठे रहे जैसे कुछ हुआ ही न हो।

लेकिन मैं तड़प उठी थी। सचमुच, पश्चात्ताप में डूब गयी थी मैं। तुम प्रतिवाद करते, गुस्सा करते तो बात बराबर हो जाती, लेकिन तुम जस के तस, प्रतिक्रियाविहीन, अबोध, मासूम और चुप।

तुम्हारी तरफ से न गाली थी, न गुस्सा था, न ताव था न तैश था और मैंने फिर भी तुम्हें थप्पड़ मार दिया था। तुम्हारा अपराध यही था कि तुम्हारा कोई अपराध नहीं था। मैं पूरा दिन चुपचाप बैठी रही थी, आत्मग्लानि के किसी स्वेटर को उधेड़ती-बुनती हुई।

आत्मग्लानि का भाव मेरे मन में उस दिन भी उठा था जिस दिन मैंने थर्मस में रखी चाय एक कप में डाली थी। एक कप में चाय थी, एक कप खाली था, जो खाली कप था वो तुम्हारा था। मैं चाय का कप लेकर कुर्सी पर आ बैठी थी, चाय पीते हुए मैंने तुम्हें दो-तीन बार देखा था। तुम विमुख थे, तुमने बिलकुल भी नहीं देखा था मुझे। तुमने बेशक मुझे नहीं देखा था, इसके बावजूद तुम्हारे सामने मैं छोटी पड़ गयी थी।

तुम्हें क्या बताऊँ! चाय पीना मेरी

आदत थी, इस आदत को मैं अपना शौक कहती थी। घर में होती तो कोई किताब पढ़ती रहती, चाय भी पीती रहती। यहाँ बात दूसरी थी। थर्मस में चाय होती, लेकिन मैं पी नहीं सकती थी।

पता नहीं क्या बदलाव आया था मुझमें! देखने का नजरिया बदल गया था। अब मैं ऊबती नहीं थी, थकती भी नहीं थी। कुर्सी पर बैठे-बैठे मैं तुम्हें कई-कई बार देखती, कुछ तसव्वुर-सा करती। मन ही मन मुस्कराती।

तुम कमरे में होते कुर्सी पर बैठे हुए, मुझे लगता तुम इस कमरे की रचना हो... पर्यावरण हो... मौसम हो... वैभव हो।

कभी-कभी मुझे महसूस होता जैसे तुम एक यात्री हो जो जीवन के अर्थ समझने निकला हो और लौटकर न आया हो। देह के अर्थ समझने निकला हो और लौटकर न आया हो। देह को रखकर और चेतना को साथ लेकर चला गया।

मुझे तो कुछ भी पता नहीं था तुम्हारे बारे में। जितना थोड़ा-बहुत पता चला, मेड से पता चला। उसने बताया था कि तुम्हारे बड़े भाई हैं, उनका बहुत बड़ा कारोबार है। उनके कई मकान, फ्लैट हैं, कई शहरों में फ्लैट हैं।

मैं मेड की बात सुनकर हैरान रह गयी। बड़े भैया बहुत रिच और छोटे भाई को एक कमरे में बिठा दिया। जैसे कि रख दिया गया हो किसी साँस लेते पिंड को कुर्सी पर। बड़े भाई ने छोटे भाई का इंटेन्सिव ट्रीटमेंट क्यों नहीं कराया? किसी बड़े अस्पताल में एडमिट कराते, लेकिन यहाँ, इस कमरे में जैसे अकेले जजीरे पर अटका कोई लापता सफीना।

इतना बड़ा विशाल कमरा मुझे किसी स्टोर-जैसा लगता था जहाँ तुम स्क्रैप की तरह रख दिये गये थे।

क्या बताऊँ तुम्हें, उस दिन मैं सकते में आ गयी थी। उस दिन जिस दिन तुमने कुर्सी पर बैठे-बैठे पेशाब कर दिया था। पहले तो मैं कुछ समझ ही नहीं पायी थी, मुझे अजीब-सी गन्ध महसूस हुई थी। मैंने इधर-उधर देखा, फिर तुम्हें देखा। तुम्हारी पैंट गीली हो चुकी थी। पेशाब की कुछ बूँदें तुम्हारी चप्पल पर भी गिर चुकी थीं। पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ था, फिर आज अचानक कैसे? पहले शायद वो लोग तुम्हें एडल्ट डायपर पहनाकर यहाँ बिठा जाते हों और आज डायपर पहनाना भूल गये हों शायद या शायद कोई और बात हो।

मैं नर्वस हो गयी थी, क्या करूँ? बहुत गुस्सा आ रहा था तुम पर। ऐसी स्थिति की तो मैंने कभी कल्पना ही नहीं की थी। तुम्हारी पैंट तुम्हारे पेशाब से भर चुकी थी और मैं बेबस, असहाय, द्वन्द्व से घिरी। क्या करूँ? क्या करूँ तुम्हारा? दिन-भर तुम ऐसे बैठे रहो, शाम तक या उससे पहले सूख जायेगा पेशाब। तुम्हारी पैंट पर पेशाब के कुछ निशान होंगे, बस इतना ही।

मैंने तुम्हें देखा। पेशाब करने के बाद तुम्हारे चेहरे के भाव कुछ बदल गये थे। तुम डर-से गये थे, जैसे कुछ अनहोनी-सी कर बैठे थे तुम। अनहोनी तो रोज होती थी, तमाम दिन तुम्हारा एक भी शब्द न बोलना, क्या यह किसी अनहोनी से कम था?

मैंने अपने अन्दर दृढ़ता पैदा की। द्वन्द को छिटक दिया, कशमकश से बाहर निकली, बिजली की तेजी के साथ उठ खड़ी हुई। अटैच्ड वॉशरूम का दरवाजा खोला। मैं दो-तीन बार इसे यूज करती थी, इसका मुझे पता था। मैंने वॉशरूम में नजर डाली। खड़े-खड़े सोचती रही कि मुझे क्या करना है।

मैंने तुम्हें कुर्सी से उठाया। तुम आज्ञाकारी बच्चे की तरह उठ खड़े हुए। मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ा। तुम दुविधा में नजर आये। मैंने तुम्हारी पीठ थपथपायी। मैंने कहा– ''जेंटलमैन, वॉशरूम तक चलो।'' तुमने शायद मेरी बात सुन ली थी, शायद समझ भी ली थी। मैंने हाथ पकड़ते हुए तुम्हें वॉशरूम ले जाने के लिए थोड़ा-सा खींचा। तुम चल पड़े, तुम्हें वॉशरूम में लाकर मैंने खड़ा किया और शॉवर खोल दिया। तुम भीगते चले गये। भीग तो मैं भी गयी थी।

मैंने शॉवर बन्द किया। हैंगर पर टँगे तौलिये को उठाया फिर स्लैब पर रखा। पहले तुम्हारे कपड़े उतारे– शर्ट, बनियान और पैंट। तुम्हारा अंडरवियर भी तो भीग चुका था। एक-दो बार मैंने सोचा, साहस नहीं कर पायी। हाँ साहस, पता नहीं क्या बात थी! मैंने तुम्हारे शरीर को तौलिये से पोंछा, लेकिन अंडरवियर को छोड़ती चली गयी।

कभी सोचा नहीं था कि ऐसी जॉब भी मिलेगी जहाँ एक यंग मैन अपने कपड़े पेशाब से भर देगा और मैं बॉशरूम में उसे नहलाऊँगी, कपड़े बदलूँगी। मैंने ये सब किया। अलमारी खोली, तुम्हारी कई सारी शर्ट, पतलून टँगी थीं। मैंने तुम्हारे कपड़े बदले। पैंट पहनाने में मुझे ज्यादा दिक्कत आयी। तुम्हारे कपड़े बदलकर मैं सन्तुष्ट हुई। तुम भी हुए थे शायद, लेकिन अंडरवियर तुम्हारा भीगा हुआ था, तुम्हें

तंग कर रहा था। मैंने उसे नहीं बदला था।

तुम्हारे बाल भीग चुके थे। मैंने शेल्फ पर रखी फुलसाइज कंघी उठायी। तुम्हारी ठुड्डी पकड़कर कंघी करने लगी। वैसे जैसे स्कूल जाते बच्चों को उनकी माँएँ तैयार करती हैं और बालों में जरा-सा हेयरकेयर या कोकोनट ऑयल लगाकर कंघी करती हैं और आखिर में माथे के एक कोने में सुरमे से काला टीका भी लगा देती हैं।

काश! मेरे पास भी सुरमेदानी होती। मैं जरा-सा सुरमा निकालती, तुम्हारे माथे के कोने में लगा देती।

तुम बहुत अबोध लग रहे थे। तुम्हारी ठुड्डी पकड़ रखी थी और तुम्हें देख रही थी।

ऐसा पहली बार हुआ था जब तुमने भी मुझे देखा था। कई बार देखा था, जैसे कोई डरा हुआ बालक देखता है। तुम मुझे उस तरह देख रहे थे।

कुर्सी की हत्थी पर पड़ा तुम्हारा हाथ धीरे-धीरे सरक रहा था। वो ऐसे यात्रा कर रहा था जैसे वो कोई बहुत थका हुआ मुसाफिर हो।

तुम्हारे हाथ ने मेरे हाथ को खोज लिया था, वो हाथ था या कोई ढूँढ़ता हुआ यात्री।

तुम्हारा हाथ मेरे हाथ पर था। तुम मुझे देख रहे थे, एकटक देख रहे थे तुम! पहली बार तुम्हारा इतना अधिक देखना मुझे। मैं चकित थी, मैं पुलकित थी, दीवारों को दिन-भर देखने वाले तुम मुझे देख रहे थे निरन्तर।

तुम्हारा हाथ मेरे हाथ पर था और सन्नाटे का कोई पतला-सा कागज फड़फड़ा रहा हो जैसे।

कमरे के इस शब्दहीन संसार में हम दो थे– तुम और मैं। मैं सम्पूर्ण चेतना के साथ, तुम अपूर्ण... लेकिन तुम्हारी यही अपूर्णता ही तो मुझे मुग्ध करती थी। कितनी पवित्र थी तुम्हारी अबोधता, कितनी मासूम थी तुम्हारी खामोशी!

एक संसार तुम्हार संसार था। न अंकगणित न बीजगणित। साफ-शफ्फाफ, निर्मल, मैलरहित, द्वेषरहित। एक संसार बाहर था। हाहाकार था जहाँ, लोग थे, मनुष्यता कम थी जिनमें, लेकिन अधिक थी चतुराई। सबकी जिन्दगी में एक पर्व था– पाखंड का पर्व।

आज मैंने सोचा था कि जल्दी चली जाऊँगी। माँ ने कोई पूजा रखी थी, पंडित जी को भी बुला रखा था।

लेकिन तुम मेरे हाथ से अपना हाथ उठाते तो मैं उठती। तुम शायद मेरे हाथ पर अपना हाथ रखकर भूल गये थे। वैसे, जैसे तुम खुद को रखकर भूल जाते थे। वैसे, जैसे तुम अपनी आवाज कहीं भूल आये थे। शब्द भूल आये थे और चेतना भूल आये थे।

मैंने धीरे-धीरे अपना हाथ सरकाया। मैं उठी, वॉशरूम में तुम्हारे कपड़े जो फर्श पर पड़े थे उन्हें रॉड पर लटकाया। लौटी, दरवाजा बन्द किया। जाने के लिए मैं सोच ही रही थी कि मेड कमरे में प्रविष्ट हुई। हम दोनों ने एक-दूसरे को देखा। मैंने कहा, ''मैं जा रही हूँ।''

''जल्दी!'' उसने कहा।

''कुछ काम है।'' मैंने जवाब दिया।

''जरूरी काम?''

''हाँ, बहुत जरूरी काम।''

ऐसा लग रहा था जैसे हम एक-दूसरे पर पत्थर उछाल रहे हों।

मेड और मेरी कम बात होती थी, बहुत कम। मैं इस यंग मैन के बारे में पूछती, वो टाल जाती। कुछ बातें मैं जानना चाहती थी, कुछ रहस्य था जो मुझे नहीं बताया जाता था।

मेड तुम्हें 'सर' कहती थी। मेड के

आईसेक्ट पब्लिकेशन

आलोचक के बयान

साक्षात्कार

धनंजय वर्मा

मूल्य 350 रु.

प्रख्यात आलोचक प्रोफेसर (डॉ.) धनंजय वर्मा अपने व्यापक अध्ययन और स्वतन्त्र विचार-चिन्तन, तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि और तलस्पर्शी विश्लेषण, निर्भीक वक्तव्य और बेलाग साफगोई के लिए चर्चित और रुसवाई की हद तक विवादास्पद हैं।

उनके साक्षात्कारों, भेंटवार्ताओं, अन्तरंग बातचीत और सार्थक संवादों की एक पुस्तक 'आलोचक का अन्तरंग' पहले प्रकाशित और चर्चित हो चुकी है। आईसेक्ट पब्लिकेशन अब प्रस्तुत करता है वर्ष 2005 से लेकर 2019 तक उनके इक्कीस साक्षात्कारों, वार्ताओं और संवादों के साथ एक परिचर्चा का यह संकलन– 'आलोचक के बयान'।

साथ जो गार्ड आता वो भी तुम्हें 'सर' कहता। कई बार कार में बैठा ड्राइवर नीचे उतरता और कमरे के बाहर आकर ठिठक जाता। वो भी तुम्हें 'सर' कहता था। एक फोल्डिंग व्हीलचेयर होती थी, जिस पर वो लोग तुम्हें बिठाते। मैं नहीं जानती वो तुम्हें कहाँ ले जाते, लेकिन जिस तैयारी के साथ वो जाते, मुझे लगता वो तुम्हें जिन्दगी के आईसीयू में ले जा रहे हों।

मैंने भी कोशिश की थी कि तुम्हें 'सर' कहूँ। दो-चार बार कहा भी, मुझे अच्छा नहीं लगा। बात पता है क्या थी? तुम फ्रेंड-जैसे तो लगते थे। सर-जैसे बिलकुल भी नहीं लगते थे।

फिर भी मैं चाहती थी तुम्हें किसी नाम से पुकारूँ। मैं जानती थी तुम्हें किसी भी नाम से बुलाऊँ, तुम्हें कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। तुम्हारा कोई नाम था तो वो गुम हो चुका था और तुम सम्बोधनों की दुनिया से कहीं बाहर खड़े इन्तजार करते दिखाई देते, जैसे किसी नामालूम स्टेशन का नामालूम आउटर सिग्नल किसी नामालूम रेलगाड़ी की इन्तजार में खड़ा रहता है, बरसों-बरस!

पर मैंने तुम्हारा नाम रख दिया था– उत्सव! सोचकर या बिना सोचे। उत्सव तो दुनिया-जहान में थे। इस कमरे में तो उत्सव-जैसी कोई चीज ही नहीं थी।

तुम्हारे कमरे में भी तो उत्सव था– खामोशियों का उत्सव, मासूमियत का उत्सव, अबोधता का उत्सव, फकीरी का उत्सव।

क्या यह उत्सव नहीं था कि तुम्हें किसी चीज की ही जरूरत नहीं थी। सफेद पैंट-कमीज में, सौम्य रूप में दिखाई देते तुम, कितने तृप्त नजर आते थे। तुम दिन-भर भूखे रहते, फिर भी तृप्त। मैं पानी पिलाती तो पी लेते, कुछ खिलाती तो खा लेते।

पूरा समाज चीजों के पीछे भाग रहा होता और तुम चीजों से मुक्त! तुम्हारी पैंट-कमीज की सारी जेबें खाली होतीं सिवाय रूमाल के, जिसे मैं तुम्हारी जेब से निकालती और तुम्हारा मुँह पोंछती।

एक दिन मैंने एक दराज खोला था। हैरान रह गयी थी। सौ-पचास के नोटों का ढेर। सारे नोट तुम्हारे लिए थे, आखिर तुम्हारे लिए सब व्यर्थ।

इस बदहवास और बदहाल समाज में जहाँ कोलाहल डर पैदा करता था, एक तुम थे अपनी चुप के साथ।

मैंने तुम्हारा नाम उत्सव रखा था। तुम सचमुच उत्सव थे। पहले मैं दिन-भर तुम्हें देखती रहती और उकता जाती, अब मेरे लिए कितना जरूरी हो गया था तुम्हें देखना।

मैं कमरे में प्रविष्ट होती। दरवाजे के पास खड़े होकर तुम्हारा नाम पुकारती– उत्सव!

मैं जानती थी कि तुम कोई रिस्पॉन्स नहीं दोगे, लेकिन मैं ये भी जानती थी कि मेरी आवाज को तुम किसी-न-किसी दिन सुनोगे जरूर!

कभी-कभी मैं तुम्हें देखती रहती। सोचती रहती। कोई सुन्दर-सा नौजवान इतना मासूम भी हो सकता है जितना कि तुम!

यह भागता हुआ समाज, सबको पछाड़ता हुआ, लेकिन अपनी आत्मा से पिछड़ता हुआ।

लेकिन तुम इस फास्टफूड कल्चर और आत्ममुग्ध समाज से बाहर थे। पता नहीं तुम समाज से बाहर थे या फिर समाज ने तुम्हें बाहर कर दिया था। यह वो समाज था जहाँ हर शख्स, दूसरे शख्स की दुर्बल फोटोकॉपी प्रतीत होता था। सब एक-जैसे थे। गर्व करने के लिए उनके पास कारें थीं या फिर एमआईजी फ्लैट...। तुम कितने अलग, कितने भिन्न, कितने मौलिक थे!

वो दिन। हाँ, वो दिन! कितना कीमती था। कितना बहुमूल्य था वो दिन! वो दिन जब इस सन्नाटे से डूबे कमरे में एक शब्द गूँजा था– ''चाय!''

पहली बार तुमने थोड़ा अटककर कहा था। फिर साफ, मुकम्मल... चाय!

मुझे तो जैसे विश्वास ही नहीं हुआ था। मैंने पूछा था– ''चाय?''

तुमने कहा था– ''चाय!''

तुमने क्या सिर्फ एक शब्द 'चाय' कहा था। नहीं, तुमने जैसे हजारों शब्दकोश खोलकर रख दिये थे।

मैं विस्मित, मैं चकित, मैं स्तब्ध! मैं खुश! कमरे में पहली बार तुम्हारी आवाज का गूँजना मैंने सुना था। मैं तो बोलती ही रहती थी। पहली बार तुम बोले थे।

''अभी लाती हूँ चाय।'' मैं कहते हुए उठी। पहले थर्मस में से चाय निकालती, एक कप में डालती, आज मैंने दो कप में चाय डाली। मैंने अपना चाय का कप पड़ा रहने दिया। तुम्हारा चाय का कप उठाया। तुम्हारे पास पहुँची। ठिठक गयी। जैसे किसी सख्त इंटरव्यू से मुझे गुजरना हो।

फिर मुझे ध्यान आया, प्लेट भी जरूरी है। मैं प्लेट उठा लायी, प्लेट में चाय डाली, तुम्हारे मुँह से लगायी। तुम फुर्र-फुर्र की कई सारी आवाजें निकालते। एक घूँट भरते। फिर वही फुर्र-फुर्र की आवाजें। फिर वही तुम्हारा घूँट भरना। चाय पीते हुए कोई फुर्र-फुर्र की आवाजें निकालता तो मुझे बहुत बुरा लगता, लेकिन तुम्हारी

फुर्र-फुर्र की आवाजें मुझे अच्छी लग रही थीं। ये फुर्र-फुर्र की आवाजें जैसे चाय का गीत हों।

मुझे ऐसे लगा जैसे पहली बार मैंने कुछ हासिल किया है। आज मैं बहुत खुश थी, बहुत पुलकित। आज तुमने 'चाय' शब्द कहा था। आज तुमने चाय पी थी। आज मैंने जब तुम्हें उत्सव कहा था तो तुमने मुझे चौंककर देखा था।

आज का दिन बड़ा दिन था मेरे लिए। चाय शब्द का उच्चारण तुमने किया था और दिन मेरे लिए बड़ा हो गया था। यह भाव मैं किसी को बता नहीं सकती थी। मैं इतनी खुश क्यों थी, यह बात तो मैं अपने आपको भी नहीं समझा सकती थी।

मैं रोजाना इन्तजार करती कि तुम 'चाय' शब्द बोलो। तुम बोलते– ''चाय।'' मैं इसी इन्तजार में होती। तुम्हारे लिए चाय लेकर आती। तुम चाय पी चुके होते। फिर अटक-अटककर तुम कहते– ''थैंक्स!''

पहली बार जब तुमने थैंक्स कहा था तो मैं चकित रह गयी थी। थैंक्स लफ्ज तुमने कैसे बोला होगा? कहाँ से सीखा होगा? यह भी तो सम्भव था कि ये सारे शब्द तुम्हारे अन्दर कहीं दबे पड़े हों।

मुझे लगने लगा था कि तुम किसी आज्ञाकारी बच्चे-जैसे हो। मेरी हर बात को मानने वाले आज्ञाकारी मासूम युवक!

लेकिन मेरी बात गलत साबित हुई थी। एक दिन तुम भाग खड़े हुए थे। कितना डरा देने वाला मंजर था, मैं बता नहीं सकती।

मेड ने ठीक ही कहा था कि मैं तुम्हें इस कमरे से बाहर कभी न ले जाऊँ। तुम कुछ एबनॉर्मल हो। बहुत चुपचाप नजर आने वाले तुम वो नहीं जो दिखाई देते हो। सड़क या बाजार पर तुम आवारा छुट्टे पशु की तरह हो सकते हो। यह भी हो सकता है कि तुम हाथ छुड़ाकर भाग गये तो वापस ही न आओ। सोच लो, फिर क्या होगा? कहाँ ढूँढ़ोगी? क्या जवाब दोगी– ये सब बातें मेड ने कही थी। मैं सोचती रही कि ये मेड का या किसी गार्ड का अनुभव है या तुम्हारे प्रति कोई धारणा।

अक्तूबर के आखरी दिन थे– खूबसूरत दिन। सुबह शर्मीली-सी लगती। धूप अपनी-सी। सूरज का ताप भी सुबह प्रतीत होता। मैं देखती, घर के साथ जो पतली सड़क थी, वहाँ लोग घूम रहे होते। बच्चे अपनी मस्ती में साइकिल चला रहे होते। सब आजाद थे, सब बेफिक्र!

लेकिन तुम इस कमरे की निश्चित कुर्सी पर बैठे रहते दिन-भर। मैं तुम्हें चाय पिलाती। पानी पिलाती। कमरे का एक चक्कर भी लगा देती– तुम्हारा हाथ पकड़कर।

मैं तुम्हें देखती। तुम्हारे बारे में सोचती। कितने ऊबे हुए युवक हो तुम! तुम अपनी ऊब का वृत्तान्त किसी को सुना नहीं सकते और तुम्हारी ऊब को अन्य कोई महसूस कर भी नहीं सकता। तुम्हारे घर के लोगों ने तुम्हें यहाँ किसी बन्धक की तरह, किसी नजरबन्द की तरह रख दिया था। यही सबसे आसान और सबसे सुविधाजनक रास्ता था।

कितना निश्चित और सीमित था तुम्हारा रोजनामचा! कितना संक्षिप्त था तुम्हारे जीवन का भूगोल!

वो दिन। जब मैंने तुम्हारे बारे में कुछ अलग-सा सोचा। मैं कुर्सी से उठती, बैठती, फिर उठ खड़ी होती। मेरे अन्दर कोई कशमकश थी जिससे मैं लड़ रही थी। मैं बार-बार दरवाजे को खोलती। बाहर की तरफ देखती। पतली सड़क जिसके किनारे घास थी, फेंस थी। कुछ दरख्त भी थे। बच्चे साइकिल चला रहे थे।

मैं उन बच्चों को बार-बार देख लेती थी। मैंने मन ही मन सोचा, कितने खुश हैं ये बच्चे! शायद इसलिए कि आसमान, धूप, हवा, पृथ्वी सब इनके साथ हैं।

मैंने सोचा क्यों न उत्सव को घुमाने ले जाऊँ थोड़ी दूर तक। दो-तीन मिनट तक मैं अपने आपसे जिरह करती रही। मेरे अन्दर की सयानी स्त्री मुझे रोकती रही। मेरे अन्दर की भावुक स्त्री मुझे उकसाती रही।

मैंने तुम्हें कुर्सी से उठाया। तुम्हारी कलाई को मजबूती के साथ पकड़ा। तुम्हें कमरे के बाहर ले आयी। गेट के बाहर आकर मैं ठिठकी। यह एक जोखिम था जो मैं उठा रही थी। सामने मुख्य सड़क थी। सड़क की समाप्ति पर फेंस थी। फिर ये दस फुट चौड़ी पतली-सी सड़क, शान्त और साफ सुथरी।

तुम धीरे-धीरे मेरे साथ चल रहे थे। मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ रखा था। ऐसा लगता था, तुम मेरा सहारा लेकर चल रहे हो। कमरे में भी तुम कम-कम चलते थे। हम थोड़ी दूर तक आ गये थे। मैं वापस जाने का सोच ही रही थी कि अचानक... बिलकुल अचानक तुमने मेरे हाथ को झटका। मेरे हाथ की पकड़ छूट गयी। तुम भाग पड़े। उस पतली-सी सड़क पर आगे तुम थे, पीछे मैं। तुम इतना तेज भी भाग सकते हो, यह मैंने उस दिन देखा था। मैं हाँफ रही थी और

भाग रही थी। तुम बहुत आगे निकल गये थे और मैं तुम्हें पकड़ने के लिए भाग रही थी। एक लड़की जब सड़क पर भाग रही हो तो वो तमाशा बन जाती है। वो एक निरीह, गरीब चुटकुला बन जाती है।

मैं अब भी भाग रही थी, लेकिन बेदम-सी हाँफती हुई, डरी हुई, क्रोधित, चिढ़ती हुई, पछताती हुई-सी।

अब न मैं भाग पा रही थी, न चल पा रही थी। मैं निढाल होकर रुक गयी थी। बेबसी और व्याकुलता के अर्थ क्या होते हैं, ये मैंने उस दिन जाना था।

मुझे लग रहा था या तो तुम कहीं खो गये हो या फिर शहर की किसी भीड़ में शामिल हो गये हो। भीड़, जिसके पास दिमाग नहीं होता। भीड़, जिसके नाखून तेज होते हैं। भीड़ जो क्रूर होती है और हिंसक!

मैं सड़क के पास पटरी पर बैठ गयी थी। मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। मैंने अपना सर अपने घुटनों पर टिकाया। मेरी आँखों से आँसू छलक पड़े।

थोड़ा वक्त गुजरा! बिलकुल मेरे पास से कोई आवाज-सी आई। सोचा कोई बच्चा होगा। सर उठाकर देखा, तुम खड़े थे। तुम चुप थे, मैं भौंचक! मैं बहुत गुस्से में थी और दु:खी। मैं चाहती थी, मेरे सामने से तुम दूर हो जाओ, लेकिन तुम खड़े थे ऐन मेरे सामने। मैं उठ खड़ी हुई, चलने लगी। एक फर्क आया। जाती बार मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ रखा था। वापसी पर तुमने मेरा पकड़ रखा था, मजबूती के साथ।

मैं सोचती चली आ रही थी। तुम दौड़ सकते हो। मेरा हाथ पकड़ सकते हो। चाय माँग सकते हो। मेरे उत्सव कहने पर तुम मुझे देखने लगते हो।

कमरे में तुम अपनी कुर्सी पर धप्प-से बैठे। मैंने कमरे का दरवाजा बन्द किया। तुम्हारे सामने आकर खड़ी हुई।

तुम डरे हुए थे और मुझे देख रहे थे। तुम्हें लग रहा था कि मैं तुम्हें दो-तीन थप्पड़ मारूँगी। बहुत पहले मैंने तुम्हें मारा भी था, शायद दो बार!

मैं तुम्हारे सामने खड़ी थी और तुम्हें देख रही थी। ये क्या? तुमने मेरे सामने हाथ जोड़ दिये थे। हाथ जोड़ने की भाषा। ये भाषा तो तुम्हें नहीं आती थी! ये भाषा तुमने कहाँ से सीखी थी!

तुम हाथ जोड़कर बैठे थे और मैं तुम्हें देख रही थी। किसी भी बात पर ध्यान न देने वाले तुम मेरे सामने हाथ जोड़कर बैठे थे। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कोई अबोध बालक गलती करके माफी माँग रहा हो। वो भाषाहीन अबोध बालक तुम ही तो थे।

मुझे लग रहा था, तुम्हारा हाथ जोड़ना तुम्हारा कथन है। तुम्हारा वृत्तान्त, तुम्हारी आत्मकथा।

मैंने तुम्हारे जुड़े हुए हाथों को अपने हाथों में भर लिया था। कितने मासूम लग रहे थे तुम! साफ-शफ्फाफ और पवित्र।

तुम क्या-क्या लग रहे थे मुझे, बताऊँ? मेरे चहेते, मेरे दोस्त, हमदम, हमकदम, बहुत अपने, बहुत मानवीय।

तुम मेरे प्रिय दोस्त जिससे मैं शब्द नहीं, खामोशी बाँटने आती थी।

हम दोनों आमने-सामने बैठे थे और हमारे हाथों में एक-दूसरे के हाथ थे।

मैंने पहली बार तुम्हारी आँखों में तरल-सा देखा था। मैं भी पहली बार तुम्हारे सामने अपनी आँखें सजल किये बैठी थी।

मेड ने तीन दिन पहले ही बता दिया था कि दीवाली पर मैं बहुत सतर्क रहूँ। तुम्हें पटाखों की आवाज से तो डर लगता ही है, उससे ज्यादा आग से डर लगता है।

मैं मेड को कैसे बताती कि तुम्हारे अन्दर ऐसा डर बिठा दिया गया है कि तुम्हें हर चीज से डर लगता है। शुरू-शुरू में तुम मुझसे कितना डरते थे! तुम मुझसे डरते और मैं तुमसे चिढ़ती। फिर तुम डरने की दुनिया से बाहर आ गये और तुम्हारा एकमात्र दोस्त कोई था तो वो मैं थी।

मेड ने कहा था कि तुम्हें आग से डर लगता है। आग से डर! तुम्हें तो हवा, पानी, धूप, बारिश, शोर, सबसे डर लगता था। तुम डरे हुए थे या डराये हुए, पता नहीं, लेकिन तुम्हारे साथ मैंने आग का खेल खेला था। रोमांचक और उल्लास से भरा।

वो दीवाली से पहले का दिन था। मैं चाहती तो छुट्टी ले सकती थी, लेकिन मैं बिलकुल नहीं चाहती थी कि मुझे कोई छुट्टी मिले। तुम्हारे पास आना ही जैसे मेरे जीवन का मकसद था। कोई प्रबल भावना थी जो मुझे तुम्हारे पास खींच लाती थी।

दीवाली की रात को तो खूब दीये जलाये जाते थे। आतिशबाजी, पटाखे और लड़ियाँ। वो रात जोश की, जश्न की रात थी, लेकिन एक दिन पहले का दिन तुम्हारे-मेरे बीच का दिन! मैं फुलझड़ियों के दो पैकेट लायी थी। छह-छह फुलझड़ियाँ हर पैकेट में।

मैं जानती थी, मैं माचिस की तीली जलाऊँगी और तुम डर जाओगे। तुम डरे भी थे। तब और ज्यादा जब मैंने फुलझड़ी जलायी। तड़-तड़ की आवाज के साथ उसमें से रोशनी के फूल झरने लगे। तुम काँपने लगे। कुर्सी पर बैठे-बैठे तुमने कोई डरावनी-सी आवाज निकाली। मैंने तुम्हारे कन्धे

पकड़े। एक पल बाद दूसरी फुलझड़ी जलायी, फिर तीसरी।

जब मैंने चौथी फुलझड़ी जलायी तो तुम डरे नहीं थे, चकित होकर फुलझड़ी को देखते रहे थे। पाँचवीं फुलझड़ी मैंने तुम्हारे हाथ में दी। हाथ मैंने भी पकड़े रखा। छठी फुलझड़ी भी मैंने तुम्हें थमायी और तुम्हारा हाथ थामे रखा।

इसके बाद तुम फुलझड़ियाँ जलाते रहे। खेलते रहे। तुम्हारे सामने मैंने कई बार दीयासिलाई जलायीं और तुम देखते रहे। एक बार ऐसा भी हुआ जब तुमने माचिस से तीली निकाली और माचिस से रगड़कर जलायी।

आग से डरने वाले तुम आग से खेल रहे थे। मैं कितनी खुश थी, क्या बताऊँ!

दूसरे पैकेट की छह फुलझड़ियाँ तुमने जलायी थीं। न खुश न उदास नजर आने वाले तुम, आज मुस्कराये थे। तुमने कहा था– ''अच्छा लगा। मुझे बहुत अच्छा लगा।''

हजारों शब्दकोश कुर्बान तुम्हारे इन शब्दों पर।

मैंने बुझी हुई फुलझड़ियाँ वापस पैकेट में रखीं और पैकेट पर्स में।

''चाय!'' तुमने कहा था।

''जरूर!'' मैंने कहा था। मैं उठी। मुझे पता था थर्मस में थोड़ी-सी चाय होगी। एक बार चाय तुम पी चुके थे।

आधा कप चाय थी। मैं तुम्हें पिला रही थी घूँट-घूँट। अचानक तुमने मेरे हाथ को पकड़ा था। चाय का कप मेरे मुँह तक ले आये थे, मैं विस्मित थी। मैंने दो-तीन घूँट भरे। चाय खत्म हो गयी थी।

मैं कप रखकर आयी। तुम्हारे सामने खड़ी हो गयी। तुम कुर्सी से उठे। मैं तुम्हें उठता हुआ देखती रही। तुम जरा-सा चलकर मेरे पास आये। तुमने अपना सिर मेरे कन्धे पर रख दिया।

तुम्हारे प्रेम का कितना उज्वल रूप था यह!

तुमने मेरे कन्धे से अपने सर को उठाया था। कुछ सोचते हुए-से तुम। कुछ न कहते हुए-से तुम। किसी द्वन्द्व में घिरे हुए-से तुम।

तुम व्याकुल थे जैसे तुम बहुत कुछ कहना चाहते हो। मैं व्यग्र थी, जो कुछ तुम्हें कहना है, वह कह क्यों नहीं देते। तुम शायद शब्दों को ढूँढ़ने चले गये थे।

मैं सोचती रहती थी कि मैं ता-उम्र आती रहूँगी तुम्हारे पास। तुम्हारे कमरे में। तुम्हें चाय बनाकर दूँगी और तुम मेरे कन्धे पर अपना सर रखकर कृतज्ञता ज्ञापित करोगे। फन्तासी के खेल कितने प्रिय होते हैं! तिलिस्म टूटे तो उसकी आवाज सिर्फ दिल सुनता है और कोई नहीं सुनता।

मेड दिन में आयी थी। वो तुम्हें छोड़कर चली जाती थी, आज रुकी रही। उसने कहा– ''बड़े साब यहाँ से चले जायेंगे। सर को भी साथ ले जायेंगे।''

मुझे ऐसे लगा जैसे सौवीं मंजिल से नीचे आ गिरी हूँ। मेड का आखिरी फिकरा मैं मन ही मन दोहरा ही थी– 'सर को भी साथ ले जायेंगे।'

सर यानी तुम!

मैंने पूछा था बड़े साब कहाँ जायेंगे, तो मेड ने कहा था कि उनकी बहुत सारे शहरों में प्रॉपर्टी है, कोठियाँ, फ्लैट। पता नहीं कहाँ जायेंगे!

तीन दिन बाद बड़े साब आये थे। ऊँची कदकाठी। बहुत रिच लग रहे थे। मुझे देखा था उन्होंने उपेक्षित-सी नजर से। तुम्हें देखते रहे थे। जैसे मुद्दत बाद देखा हो। वो बहुत मसरूफ रहे होंगे। तुमसे मिलना उनको कभी याद ही न आया हो।

मेरी सर्विसेज का उन्होंने थैंक्स किया था। कहा था कि कल वो सब यहाँ से चले जायेंगे।

तुमने बात समझ ली थी। तुम्हें पता चल गया था कि बड़े साब, जो तुम्हारे बड़े भाई भी थे, तुम्हें यहाँ से ले जायेंगे।

तुम इंकार में सर हिला रहे थे। मैं स्तब्ध-सी खड़ी थी, तड़पती हुई-सी।

मैंने सहमी हुई आवाज में कहा था, ''सर आप न जायें। यहीं रुके रहें।'' मेरी बात का उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया था।

तुमने मेरा हाथ पकड़ रखा था। तुम्हारा एकमात्र भरोसा मैं थी और तुमने मेरा हाथ पकड़ रखा था। तुम्हारे गले से न समझ आने वाली मुरझाई हुई आवाज निकली थी। तुमने मेरे कन्धे पर सर रख दिया था– आखिरी बारी। मैंने तुम्हारे माथे को चूम लिया था, आखिरी बार।

वो लोग, मेड, ड्राइवर और गार्ड पकड़कर तुम्हें गेट तक ले आये थे।

बड़े साब, यानी तुम्हारे बड़े भाई साहब कार के पास खड़े सारा मंजर देख रहे थे।

तुमने पलटकर मुझे देखा था, बहुत अधिक देखा था तुमने मुझे। दीवारों को देखने वाले तुम मुझे देख रहे थे एकटक।

इसी आखिरी बार के देखने में तुम्हारे उम्र-भर का देखना था।

सब जा चुके थे। मैं खड़ी थी वहाँ जस की तस।

गुजिश्ता दिनों के आतिशदान की आँच ढूँढ़ती हुई।

मो. 9813491654

लड़का सभ्य हो, सुन्दर, सुशिक्षित, कमाऊ हो।
अब एक चीज और देखी जाने लगी है।
लड़के का परिवार छोटा हो कि लड़की को
कुछ खास जिम्मेदारी न उठानी पड़े। यानी
लड़की वालों को पूरी सुख-सुविधा और
अच्छा बन्दोबस्त चाहिए। तब दहेज तो बढ़ेगा।

सुषमा मुनीन्द्र

अप्रत्याशित

लड़का–

नाम : रूपक, आयु : तीस वर्ष, शिक्षा : एम.बी.बी.एस, पद : आर्मी में मेडिकल ऑफीसर। खूबसूरत भी और खूबसूरत होने का एहसास भी। विगत पाँच वर्षों से इसके लिए लड़की देखी जा रही है। अपेक्षित लड़की अब तक नहीं मिली। लड़की चिकित्सक हो, सुन्दर, आधुनिक, लम्बी हो। फर्राटा अँग्रेजी बोले। कार चला ले। तमाम गुण जो लड़की को बुद्धिमती साबित करें। ऐसी विलक्षण कन्या शायद मिल जाती यदि इसके पिता इसका मूल्य चालीस-पचास लाख आँक न रहे होते। होते-होते इसकी अपेक्षाओं का पतन होता गया, अत: एम.बी.ए., एम.एस-सी. लड़की भी चलेगी।

लड़के के माता-पिता–

माँ का नाम– गंगी। आठवीं पास गृहिणी। पिता शिक्षक हैं और गुरुजी कहे जाते हैं। दो बेटियों को ब्याह कर कंगाल हो चुके हैं, अत: रूपक के ब्याह से माला-माल होना चाहते हैं। पाँच साल पहले जब रूपक को नयी-नयी नौकरी मिली थी, इनकी आर्थिक आकांक्षा चालीस-पचास लाख पर थी। आँकड़ा सुन कन्या पक्ष का दम फूल जाता। अब अपना अपराध स्वीकार करते हुए गुरुजी रूपक को घटी दरों पर ब्याहने को तैयार हैं। रूपक जब भी आता है, याद दिला देता है– आपके लोभ के कारण अच्छे प्रस्ताव हाथ से निकल गये। गुरुजी का

अपराधबोध बहुत बढ़ जाता है।

लड़की–

नाम : काशी, आयु : चौबीस वर्ष, शिक्षा : एम.एस-सी. बायो टेक। अति सुन्दर। फर्राटा अँग्रेजी से तमाम लोग अनुमान लगाते हैं, यह आधुनिक लड़कियों की तरह तेज, कुतर्की, परम्पराभंजक और प्रदर्शनप्रिय होगी, जो कि नहीं है। आरम्भिक रुचि में राजपत्रित अधिकारी रखे गये थे। कीमत जो भी देनी पड़े। दो साल में समझ गये मनोवांछित वर मिलना कठिन है तो अब अरमान उतार पर हैं।

लड़की के माता-पिता–

माँ का नाम : मधु, एम.ए.। पिता : सदानन्द, खानदानी जायदाद और खानदानी वकालत। जाहिर है समृद्ध पृष्ठभूमि के स्वामी, यू.पी.एस.सी चयनित अधिकारी का सौदा न कर सके तो अब रूपक के लिए प्रस्ताव लेकर जा रहे हैं।

रविवार को जब सदानन्द की स्कॉर्पियो गुरुजी के दरवाजे पर रुकी, गुरुजी हुलास से भर गये। कभी उनके घर गाड़ियाँ तादाद में आती थीं। इधर दिनों बाद आयी। गुरुजी ने सदानन्द का स्वागत किया। गंगी, पानी और कई दिनों का बासी कलाकन्द ले आयी–

''धूप में आये हैं, कुछ खाकर ही पानी पीजिये।''

सदानन्द ने हाथ जोड़े ''लड़की वाला हूँ, खाना उचित न होगा।''

गुरुजी हुलहुला गये ''लीजिये। अभी उचित है।''

छोटा टुकड़ा मुँह में दबा सदानन्द ने रूपक की फ्रेम्ड तस्वीरों का अवलोकन किया। रूपक इस निम्न औसत परिवार की सम्पदा और सम्प्राप्ति है।

गुरुजी बताने लगे, ''यही हैं डॉक्टर साहब। इस तस्वीर में वे सियाचिन में हैं, इसमें जम्मू में, इसमें त्रिवेन्द्रम में, उसमें... सदानन्दजी असंख्य लोग प्रस्ताव लेकर आ चुके हैं पर डॉक्टर साहब को लड़की पसन्द नहीं आती। लोगों ने दुष्प्रचार कर दिया, मैं लोभ दिखाता हूँ इसलिए लड़के की शादी नहीं हो रही है। मैं आपको लोभी लगता हूँ? अरे मैं जमीन से जुड़ा आदमी हूँ। हाँ, स्पष्ट बात करता हूँ। आप इसे अपराध कहें तो कह लें।''

सदानन्द विनयी बने रहे, ''अपराध कैसा? बेटा आपका है, आप अपनी इच्छा बतायें। यह आपका अधिकार है।''

गुरुजी दम्म से फूल गये, ''चलिये, आप लड़के वालों का दर्द समझते हैं। हम लड़के वाले प्राथमिकताएँ तय करते हैं तो बदनाम हो जाते हैं। जबकि लड़की वाले भी योजना बनाते हैं। प्राथमिकताएँ तय करते हैं। लड़का सभ्य हो, सुन्दर, सुशिक्षित, कमाऊ हो। अब एक चीज और देखी जाने लगी है। लड़के का परिवार छोटा हो कि लड़की को कुछ खास जिम्मेदारी न उठानी पड़े। यानी लड़की वालों को पूरी सुख-सुविधा और अच्छा बन्दोबस्त चाहिए। तब दहेज तो बढ़ेगा। रूपक यदि बेरोजगार होता आप मेरे घर न आते। देखिये कुछ बातें अशोभन लगती हैं, पर सच होती हैं।''

''ठीक फरमाते हैं।''

गुरुजी मुद्दे पर आये, ''लड़की की तस्वीर और बायोडाटा लाये हैं न? और गंगी तुम क्या सुस्त बैठी हो? बढ़िया लस्सी बनाओ।''

गंगी भीतर चली गयी।

सदानन्द ने सफेद लिफाफे से काशी की तस्वीर निकाल कर गुरुजी को पकड़ा दी।

गुरुजी ने तस्वीर को पास से, दूर से, कोई कोण से देखा- ''लड़की क्या इतनी ही खूबसूरत है जितनी तस्वीर में? कुछ लोग तस्वीर पता नहीं किस स्टूडियों में उतरवाते हैं। फोटो सुन्दर होती है और लड़की देखने जाओ तो अरमान पानी हो जाते हैं।''

''लड़की अच्छी है।''

''तब हम निश्चिन्त हुए। लेन-देन की कुछ बातें हो जायें तो अच्छा होगा। स्पष्ट बात करना दोनों पक्षों के लिए सुविधाजनक होता है।''

''बतायें साहब।''

''मेरी एक ही साध है। लोगन कार। बाकी आप अपना संकल्प कहें।''

''बीस लाख का संकल्प है। कार इसी में शामिल रहेगी।''

गुरुजी पन्द्रह में पट जाते। रकम उनकी आशा से अधिक थी। खुश हो गये, ''आपकी बात रही। अब कहें मैं लोभी लगता हूँ? लोगों ने ऐसा खलनायक बना दिया।''

''रूपक की तस्वीर मिल जाती तो मैं घर में दिखा देता।''

''हाँ, हाँ।''

सदानन्द ने स्टील के बड़े गिलास-भर लस्सी पी और तस्वीर ले घर पहुँचे।

मधु ने तस्वीर काशी को दिखायी, ''रूपक सुन्दर है न?''

काशी प्रभावित हुई लेकिन बोली, ''चिपकू।''

सदानन्द बताने लगे, ''मधु, देख आया रूपक का घर-द्वार। साधारण लोग हैं। समझ लो उस घर में कुछ है तो रूपक है। बस।''

मधु ने सन्तोष जाहिर किया,

''अच्छा है न! हमसे कम स्तर रहेगा तो शान नहीं दिखा सकेंगे। काशी को यहाँ तो रहना नहीं है। रूपक के पास रहेगी। दान-दहेज की चर्चा हुई?''

''हाँ। लोगन उनकी च्वॉइस है। बाकी मैंने अपना संकल्प बता दिया है।''

काशी ने बुरा मुँह बनाया, ''लोगन देखी है इन्होंने?''

सदानन्द ने उसे स्नेह से निहारा, ''काशी, तुम मेरी एक-ही बेटी हो। हमें तो देना ही है। भगवान का दिया बहुत-कुछ है। तुम्हारे विधान भैया का यह एम.बी.ए. लास्ट सैम है, फिर उसे भी जॉब मिल जायेगा। सब अच्छा है। सबसे अच्छा है– यह स्थानीय परिवार है। कहीं दूर रिश्ता हो तो तमाम डर हैं मेरे मन में।''

तीसरे दिन गुरुजी फोन पर थे–

''डॉक्टर साहब से फोन पर बात हुई। काशी की तस्वीर उन्हें मेल कर दी है। उन्होंने कहा है हम लोग काशी को देख लें। फिर आगे मामला बढ़े।''

सदानन्द उत्साहित हुए, ''आप लोग शाम को आयें। मैं ड्राइवर भेज दूँगा।''

मधु हड़बड़ा गयी, ''काशी, मैं तैयारी कर लूँ, तुम ब्यूटी पार्लर क्यों नहीं चली जाती?''

काशी अड़ गयी। ''मैं वैसे ही सुन्दर हूँ। माँ, रूपक मुझे देखने आयेगा तो क्या पार्लर या जिम होकर आयेगा कि मैं उसे पसन्द कर लूँ? मैं नहीं जाऊँगी। तुमने मामा की लड़की का हाल देखा तो है। ब्यूटी पार्लर से सजवाकर बैठा दिया। पसन्द कर ली गयी। अब उसका पति कहता है, उस दिन पता नहीं क्या मेकअप किये थे कि रंगत बन गयी। जबकि रंगत है नहीं। माँ, एक दिन की स्पेशल तैयारी कर हम धोखा ही देते हैं। शादी एक दिन का मामला नहीं है, वहाँ जिन्दगी गुजारनी होती है।''

मधु जानती है, काशी स्वाभिमानी है। ''रसोई में मदद करोगी कि वह भी नहीं।''

''करूँगी पर तुम झूठ नहीं बोलोगी कि यह सब काशी ने बनाया है, जैसा उमरिया वालों से कह दिया था। वे पूछेंगे तो मैं साफ कहूँगी, खाना ठीक तरह नहीं बना पाती।''

''नहीं पूछेंगे। यह नाटक हमारे समय में होता था। लड़के वालों की जिधर नजर पड़ी, वहीं से सवाल शुरू। मेजपोश लड़की ने बनाया? वह पेन्टिंग? लड्डू? यह गुलदस्ता? तुम्हारे पापा के परिवार वालों ने क्या-क्या न पूछा। मेरा जी करता था पूछूँ कि आपके लड़के की वकालत ठीक चलती है? चरित्र ठीक है? सिगरेट-शराब की आदत तो नहीं?''

मधु बताती रही, काशी हँसती रही।

ड्राइवर मेहमानों को ले आया। वे पति-पत्नी स्कॉर्पियो में कदाचित पहली बार बैठे थे। उसमें बैठने का विशिष्टता बोध चेहरे में दिखाई दे जाता था। अच्छे परिसर वाले घर को देख बोध बढ़ गया। अनुमान से बड़ी पार्टी जान पड़ती है। जिन्दगी-भर सौगातें मिलती रहेंगी। मधु उन्हें कला-कक्ष में ले चली। जल्दी ही मेज खाद्य-सामग्री से भर दी गयी। गुरुजी और गंगी ने छक कर खाया। पश्चात काशी ने प्रस्तुति दी। उसे देख गुरुजी तनिक उचक गये। *'रूपक तुमने कहा है लड़की बहुत खूबसूरत हो तभी तुम उसे देखने आओगे। तो महाराज ऐसी कमनीय लड़की है तुम सिर के बल चल कर आओगे।'*

गुरुजी, काशी से पूछने लगे ''काशी, तुम अँग्रेजी बोलती हो न?''

''जी, अँग्रेजी माध्यम से पढ़ी हूँ।''

''शाबाश। आर्मी का वातावरण एकदम अलग है। औरतें फर्राटा अँग्रेजी बोलती हैं, कार चलाती हैं, डांस-वांस, पता नहीं क्या-क्या! हम देहाती हैं इसलिए हमारे लिए ये अनोखी चीजें हैं, पर डॉक्टर साहब को ऐसी ही लड़की चाहिए। कार चला लेती हो?''

''हाँ।''

''शाबास। सदानन्दजी संयोग बन रहा है, तैयारियाँ कीजिये।''

रूपक महाराज तुम्हें पाक कला पारंगत लज्जाशील लड़की नहीं बल्कि अँग्रेजी बोलने वाली, प्रोफेशनल डिग्री कोर्स और कार चलाने वाली लड़की चाहिए न? मिल गयी।

वक्ता बड़जोगी गुरुजी चुप हुए तो गंगी ने कहना प्रारम्भ किया, ''हम लोग डॉक्टर साहब के पास जाते रहते हैं। बड़ी शानदार जिन्दगी है मलेटरी की। बँगला, रसोइया, नौकर-चाकर। क्या नहीं है? कैंटीन में इतना सस्ता सामान। काशी तुम्हें पूरी छूट रहेगी हमारे घर में। जींस, स्कर्ट जो पहनना है पहनो।''

गुरुजी लौट चले। मधु ने दबाव बनाने के लिए दोनों को एक हजार एक रुपये भेंटस्वरूप दिये। लक्ष्मी की महिमा अपरम्पार है।

घर पहुँच गुरुजी ने रूपक को कॉल किया–

''रूपक, लड़की बहुत सुन्दर है, स्मार्ट है... हाँ, अँग्रेजी बोलती है... तुम आओ, लड़की देख लो। बहुत हुआ... लोग कहते हैं लड़का क्या बुढ़ापे में शादी करेगा?''

गुरुजी सुबह फोन पर थे, ''सदानन्दजी, डॉक्टर साहब तीन मई को आ रहे हैं। दक्षिण से यहाँ तक का

बड़ा लम्बा सफर है– उन्हें काशी पसन्द आ गयी तो तुरन्त शादी करनी होगी। बार-बार लम्बी छुट्टी नहीं मिलती। मेरा सुझाव है शादी की तैयारी शुरू करें।''

उधर से सदानन्दजी 'पंडितजी, कृपा पंडितजी, बहुत अच्छा पंडितजी' करते रहे।

काशी तुनक गयी, ''क्या पापा आप उनके खादिम बने जा रहे हैं। वे देवता नहीं हैं।''

मधु ने समझाया, ''देवता नहीं हैं पर लड़की वालों को कुछ शिष्टाचार करना पड़ता है। मुझे तो लगता है शादी बहुत जल्दी करनी पड़ेगी।''

काशी का चेहरा लाल हो गया, ''पापा आप 'पंडितजी-पंडितजी' करते रहेंगे और वे आपको लूट लेंगे। भैया को बुला लीजिये। वो कुछ सँभाल लेगा।''

दो मई की शाम विधान पहुँच गया। आते ही माहौल बना दिया।

''काशी, चल मेरे घर से रवाना हो। बोरिया-बिस्तर बाँध।''

काशी ने माहौल को करुण कर दिया, ''इतना अच्छा घर और इतने अच्छे लोगों को छोड़कर जाने को दिल नहीं करता भैया। क्यों न यहीं रह जाऊँ! तुम्हारी प्रापर्टी की केयर टेकर बन जाऊँगी।''

''केयर टेकर किसी भरोसेमन्द को बनाऊँगा।''

''डरते हो, दावेदारी करूँगी।''

''कर सकती हो। वकील की बेटी हो।''

परिवार में बना सानन्द वातावरण तीन मई को मन्द पड़ गया।

गुरुजी लजाये हुए थे फोन पर– ''हैलो... सदानन्दजी! डॉक्टर साहब की छुट्टी कैंसिल हो गयी। वहाँ पता नहीं कौन-सा ऑपरेशन चलाया जा रहा है जो पन्द्रह दिन चलेगा। आर्मी में यही होता है। रिजर्वेशन कैंसिल कराना पड़ा।''

सदानन्द उलझन में थे। ''हम इन्तजार कर रहे थे, मेरा बेटा विधान छुट्टी लेकर आ गया कि डॉक्टर साहब से मिल लेगा।''

''हमसे मिल ले। उसे घर भेजिये। क्या बताऊँ मैं स्वयं इतना उदास हुआ कि...। आगे भी डॉक्टर साहब को छुट्टी नहीं मिलती है तो चलिये हम सब मिलकर उनके पास चलते हैं। दक्षिण घूम लेंगे और सब बातें तय कर लेंगे।''

रूपक का न आना सदानन्द परिवार को असमंजस में डाल रहा था। मधु बोली, ''रूपक शादी नहीं करना चाहता, इसलिए तो आना नहीं टाल दिया?''

विधान ने मधु का समर्थन किया, ''हाँ पापा, रूपक का पता नहीं है और यहाँ शादी की तैयारी है।''

सदानन्द दुराशा में नहीं पड़ना चाहते थे, ''रूपक की छुट्टी सचमुच कैंसिल हो गयी होगी। विधान, हमें सकारात्मक भाव रखना चाहिए। तुम गुरुजी से मिल आओ। दक्षिण जाने का कार्यक्रम बनाया जा सकता है।''

''ठीक है पापा। हमें वहाँ जाना चाहिए। इधर इतनी अधिक चीटिंग, फेलियर होने लगा है कि हमें पूरी जानकारी लेनी होगी।''

गुरुजी ने विधान का स्वागत किया– ''आओ, आओ। गंगी, देखो सदानन्दजी के बेटे आये हैं। विधान, डॉक्टर साहब नहीं आ सके, इसलिए गंगी उदास है। माँ जो है! तुम आ गये हो तो कुछ मन बहल जायेगा।''

विधान मुद्दे पर आया, ''अंकल, डॉक्टर साहब को समय नहीं है तो चलिये हम लोग वहाँ हो आते हैं।''

''बिल्कुल। मैं उनको सूचित कर कार्यक्रम बना लेता हूँ। तुम देखोगे, वह एक अलग वातावरण है। वहाँ अनुशासन है, जबकि सिविलियन लाइफ बड़ी अस्त-व्यस्त-सी होती है। डॉक्टर साहब अनुशासनहीनता जरा पसन्द नहीं करते।''

''होता है।''

''देखिये, घर हमारा छोटा है पर काशी को यहाँ तो रहना नहीं है। कभी दो-चार दिन को आयेगी तो बेटी की तरह रखेंगे।'' पति-पत्नी ने जिस उत्साह-उमंग से बातें की, विधान ने मान लिया कि छुट्टी रद्द हो गयी होगी।

विधान ने घर में घुसते ही कहा, ''माँ मैं खाना नहीं खाऊँगा। इतने बड़े गिलास में लस्सी पीकर आ रहा हूँ। काशी, जान लो। उस घर में दो चीजें खास हैं। लड़का और लस्सी। वैसे एक बात है– ये लोग लोभी हो सकते हैं पर धोखेबाज नहीं लगते। शादी के लिए इतने उतावले हैं कि जो मुँह में आता है, बोल देते हैं।''

मधु मलिन दिखी, ''विधान, तुम्हें ये सब ठीक लग रहा है?''

''देखते हैं माँ।''

गुरुजी फिर फोन पर थे–

''सदानन्दजी, मैंने डॉक्टर साहब से बात की कि यदि छुट्टी न हो तो हम लोग काशी को लेकर आ जाते हैं। तब उन्होंने कहा, गर्मी में आप लोग परेशान न हों। मैं तेईस को आ रहा हूँ। पन्द्रह दिन रहूँगा।''

सदानन्द ने यह बताया तब मधु बोली, ''तेईस को आता है तो ठीक

वरना हम अन्य प्रस्तावों पर विचार करेंगे।''

विधान को बात उचित लगी, ''बिल्कुल। मैं लौटूँगा। रूपक आये तो बताना। किसी तरह मैनेज करूँगा।''

और रूपक आया।

विधान को फिर बुलाया गया।

विधान रात्रि-भोज के लिए रूपक के परिवार को लेने पहुँचा। रूपक सामने के कमरे में एक-दो मरीजों को देख रहा था। विधान ने रूपक को देखा। अच्छी बिल्ड वाली देह और सुन्दर चेहरा। यह हीरा इस साधारण घर में कैसे जन्मा? सदानन्द ने दोनों का परिचय कराया।

विधान से हाथ मिलाकर रूपक बोला, ''आइये, बैठिये। मैं इन पेशेन्ट को देख लूँ। मेरे आने की सूचना पाकर आस-पास के मरीज आ जाते हैं।''

''डॉक्टर कहीं भी हों, लोग फुर्सत नहीं देते।'' विधान, मरीजों की गतिविधि देखने लगा।

पहला मरीज बता रहा था, ''बुखार है, मितली आती है, खाने की इच्छा नहीं होती। पीलिया हो गया है।''

रूपक हँसा, ''बाबा तुम तकलीफ बताओ, बीमारी क्या है, मैं बताऊँगा। यदि जानते हो पीलिया है तो यहाँ क्यों आये हो? जाओ परहेज वाला खाना खाओ।'' आगे उसने अँग्रेजी में विधान से कहा, ''इन गँवई लोगों का यही है। ये खुद जान जाते हैं बीमारी क्या है? कैमिस्ट से कोई दवाई लेकर खा लेते हैं। रोग बढ़ जाता है, तब डॉक्टर के पास भागते हैं।''

''यह है।'' विधान ने अनुमोदन किया।

उन्हें बातों में व्यस्त देख गुरुजी भीतर चले गये और काशी को फोन पर निर्देश देने लगे, ''देखो बिटिया, डॉक्टर साहब जो भी पूछें, पूरे आत्मविश्वास से जवाब देना। मैं तुम्हारे साथ हूँ। मुझे अपना पिता समझो। बता ही चुका हूँ, डॉक्टर साहब को पारम्परिक छवि वाली नहीं, स्मार्ट लड़की चाहिए। तुम्हें अच्छा प्रदर्शन करना है। तुम्हारा व्यक्तित्व प्रभावशाली है, यह साबित होना चाहिए। डॉक्टर साहब यहाँ आते हैं तो हम उन्हें वीआईपी की तरह रखते हैं। उन्हें आर्मी के तौर-तरीके से रहना पसन्द है न। शादी के बाद तुम देखोगी, वहाँ चौकीदार सुबह वेकअप काल देने आता है...''

काशी को एक किस्म के सन्देह ने घेर लिया, ''माँ, ये अंकल, जिस तरह उतावले हो रहे हैं, मुझे अजीब लगता है।''

मधु अज्ञात भय में बोली, ''अब क्या कहूँ?''

सदानन्द ने हौसला बढ़ाया, ''कुछ मत कहो। वे लोग आते होंगे। देखते हैं, रूपक का व्यवहार कैसा है। तभी कुछ समझ में आयेगा। वैसे सीधी-सी बात है। गुरुजी यह प्रस्ताव चूकना नहीं चाहते हैं, इसलिए कुछ उतावले होने लगते हैं। रूपक की शादी का उन्हें कितना अरमान है, इस बात को समझो।''

विधान अतिथियों को ले आया।

रूपक ने कला-कक्ष की सराहना की, ''मुझे आप लोगों की तरतीब और तरीका अच्छा लगा। ड्रॉइंगरूम में क्या रखा जाये, इसका ज्ञान होना चाहिए। मैंने माँ को कहा, मेरी तस्वीरें बैठक से हटा दो, बेवकूफी लगती है। पर ये लोग नहीं मानते। प्रदर्शन की क्या जरूरत?''

सुनकर गुरुजी और गंगी कुछ लजा गये।

सदानन्द ने स्थिति समझी, ''बेटा होनहार हो तो माता-पिता की इच्छा होती है, लोगों को उसके विषय में बतायें।''

''मैं ऐसा होनहार नहीं।'' कह कर रूपक ने सदानन्द के परिवार का दिल जीत लिया।

बादामी परिधान में काशी आ पहुँची।

रूपक उस पर ध्यान केन्द्रित न कर सियाचिन प्रवास के अनुभव बताता रहा कि निम्न तापमान में ठंड से किस तरह बचाव करना पड़ता है।

गुरुजी को प्रसंग न सुहाया। विषय परिवर्तन कर काशी को बोले, ''काशी प्लेटें लगाओ। सब ठंडा हुआ जा रहा है।''

वे रूपक को दिखाना चाहते थे, लड़की को परोसने का सभ्य तरीका आता है।

रूपक ने अपनी प्लेट में बहुत कम चीजें रखवायीं, ''बस, इतना ही। मैं मोटा नहीं होना चाहता।''

गंगी हँसी, ''इनके लिए इतनी चीजें बना कर मैंने रखी हैं, ये खाते नहीं।''

रूपक ने गंगी को आगे नहीं बोलने दिया। ''काशी तुम जॉब करना चाहती हो?''

''कुछ कंसलटेंसी में सी.वी. भेजी है। कम्पनीज में भी रिज्यूमे भेजा है।''

''हाँ, लड़कियों को अवसर मिल रहे हैं। उन्हें अपनी योग्यता का उपयोग करना चाहिए।''

''आप ऐसा सोचते हैं, मुझे अच्छा लगा।''

काशी कुछ बताने में झिझक या चूक जाती तब विधान उसके उत्तर को

दुरुस्त कर देता था। वह प्रति-क्षण सतर्क था, काशी का प्रस्तुतीकरण बेहतर हो।

सदानन्द बोले, ''आइये, हम लोग अलग बैठें। रूपक और काशी अकेले में जो पूछना चाहें पूछ लें।''

''बिल्कुल।'' गुरुजी उठ खड़े हुए।

इधर रूपक को सहसा कुछ समझ में न आया। किसी तरह पूछा, ''एम. एस-सी. कहाँ से किया है?''

''दिल्ली से। जे.एन.यू.।''

''नाइस, कोई अफेयर?''

''नहीं। मैंने सोचा नहीं। डेटिंग, चैटिंग, मैसेजिंग, स्लीवलेस, शोल्डरलेस, बैकलेस कपड़ों से हम आधुनिक नहीं बनते हैं बल्कि ज्ञान और आत्मविश्वास से बनते हैं।''

''हाँ, देह प्रदर्शन को मैं बेवकूफी कहता हूँ। लड़कियाँ क्या चाहती हैं? तुमने पूरी बाँह के कपड़े पहने हुए हैं और यह तुम्हारी स्मार्टनेस को कम नहीं कर रहे हैं। खैर... अपने बारे में बता दूँ। दो अफेयर हो चुके हैं। अब नहीं हैं पर मैं स्पष्ट बता देना जरूरी समझता हूँ। बाद में किन्हीं सूत्रों से पता चले तो सन्देह पैदा होता है। सम्बन्धों में अविश्वास आ जाता है। आर्मी में डांस पार्टीज, बियर पार्टीज औपचारिकता की तरह होती रहती हैं। मुझे यह सब पसन्द है। जिन्दगी का भरपूर मजा मिले। इसके अलावा मैं खाने का शौकीन हूँ। खाना अच्छा हो, सलीके से परोसा गया हो। मुझे हर चीज सलीके और सही रूप से चाहिए। यहाँ तक कि मैं जूते में भी धूल सहन नहीं करता। तुम्हारी कोई पसन्द?''

''जो चाहा मिलता रहा, इसलिए सोचा नहीं क्या पसन्द है, क्या नहीं है।''

''इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि दबाव या समझौते के साथ बहुत दिनों तक नहीं रहा जा सकता। रहना पड़े तो जीवन में खीझ और कटुता आती है।''

''मैं बहुत नहीं चाहती। चाहती हूँ मेरा जो वजूद है उसे इतना न बदलना पड़े कि अफसोस हो।''

''यानी तुम आत्मविश्वास से भरी हुई लड़की हो। मुझे बात-बात में भावुक होने वाली, रोने-धोने वाली लड़कियाँ बोर करती हैं। ओ... हाँ, तुमने मेरे अफेयर पर कुछ नहीं कहा।''

''आप बता रहे हैं, अफेयर अब

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

शीघ्र प्रकाश्य

ममता कालिया

की कहानी

पंडितजी का कुनबा

शीघ्र प्रकाश्य

नासिरा शर्मा

की कहानी

रामपुरी चाकू

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

नहीं रहे।''

''थे तो।''

''आपने बता दिया– यह आपकी ईमानदारी है।''

रूपक चकित हुआ– कुछ भी इस लड़की को चौंका नहीं रहा है। पिछली बार जब आया था, गुरुजी एक-दो प्रस्ताव लिये बैठे थे। रूपक ने अफेयर की बात बतायी तब लड़की वाले भड़क गये थे कि ऐसी खुली बातें करने वाला लड़का सभ्य नहीं हो सकता।

काशी अन्यमनस्क हुई– क्या दर्शाना चाहता है यह दम्भी लड़का? मुझमें थोड़ी भी कमी हुई तो सहन नहीं करेगा? हर बात में मानो निर्णायक हो रहा है। न किसी को बोलने का अवसर देता है न पूछने का। अपने माता-पिता को भी नहीं। एक तरह से अपना अभिभावक खुद बना हुआ है। इसके साथ जिन्दगी बिताना आसान न होगा।

अतिथियों के जाने के बाद चारों सदस्य मन्त्रणा करने बैठे। विधान ने काशी की राय माँगी।

''काशी, रूपक कैसा लगा?''

''भैया, ऐसा लगता है अपने सारे फैसले रूपक खुद करता है। उसके दो अफेयर हो चुके हैं।''

विधान हँसा, ''अफेयर? काशी अब यह सब फैशन हो गया है। हाँ, यह मुझे लगता है रूपक अपने माता-पिता को वैसा महत्त्व नहीं देता, जैसा देना चाहिए। रूपक लगा कैसा?''

''अफेयर और घमंड को हटा दो तो अच्छा है।''

मधु कुछ तल्ख हुई, ''काशी, हर बात पर अड़ोगी तो तुम्हारी शादी मुश्किल हो जायेगी। रूपक भला लड़का है।''

सदानन्द ने दबाव बनाया, ''लड़का योग्य है। बस उसकी ओर से हाँ हो जाये।''

घर में एक आशा दिखाई देने लगी, मानो नये क्षितिज का निर्माण होने जा रहा है।

कोई सूचना न आयी तो सदानन्द ने गुरुजी को फोन किया। गुरुजी आनन्दी भाव में बोले– ''हाँ-हाँ, हमारी ओर से हाँ है। क्या है उस दिन आपके घर में डॉक्टर साहब काशी से ठीक से बात नहीं कर पाये। वे चाहते हैं काशी के साथ बाहर डिनर लें। कुछ बातें हो जायेंगी। अब हमारा जमाना तो रहा नहीं जो...''

''ठीक है। घर में बात करके बताता हूँ।''

काशी भड़क गयी।

''सब नौटंकी। पापा मुझे लगता है रूपक अपना मनोरंजन कर रहा है।''

सदानन्द ने पुत्री को शान्त किया, ''बेटी, लड़की वालों को सचमुच बहुत नाचना पड़ता है। लगता है यहाँ बात बन जायेगी। चली जाओ। हो सकता है, रूपक उस दिन ठीक से बात न कर पाया हो।''

विधान बोला, ''ठीक है न! हमें भी रूपक को जानने का मौका मिलेगा।''

''मैं नहीं जाऊँगी। जिसे बात करना है, वह घर आये।''

''काशी, बेवकूफों की तरह व्यवहार मत करो।''

''भैया, तुम भी चलो। यह लड़का विचित्र लगता है। बाप की लार टपकी पड़ती है, बेटा ऐंठ रहा है। पता नहीं क्यों, पर मुझे अपमान लग रहा है।''

सदानन्द ने काशी का मनोबल बढ़ाया, ''काशी, चीजों को नकारात्मक भाव में मत लो। रूपक निश्चिन्त होना चाहता है कि तुम उसके साथ ठीक तरह मूव कर सकोगी या नहीं। और यदि कुछ बकवास करे तो ऐसा करारा जवाब देना कि फिर किसी लड़की को देखने का साहस नहीं करेगा। विधान साथ में जा ही रहा है।''

रूपक होटल के लॉन में चहलकदमी करता हुआ मिला। उसे विधान की अपेक्षा नहीं थी पर उसने व्यक्त किया कि उसे विधान का आना अच्छा लगा है।

तीनों कोने वाली मेज पर आ गये। विधान ने सूप और स्टार्टर का ऑर्डर देते हुए बैरे से कहा, ''अभी कुछ बातें होंगी। खाने का ऑर्डर थोड़ी देर बाद लेना।''

सूप पीते हुए रूपक वही बातें दुहराने लगा जो पहले बता चुका था। विधान समझ गया, यह काशी से बात करना चाहता है और मैं बीच में डटा हूँ। सूप खत्म कर बोला, ''मैं एक दोस्त से मिलकर आता हूँ। यहीं पास में रहता है।''

काशी को जाता हुआ विधान दयनीय और लाचार लगा। बहन ब्याह कर अच्छे घर चली जाये, इसलिए यह जतन कर रहा है। उसकी इच्छा हुई जाते हुए भाई को रोक ले... *'भैया तुम कहीं नहीं जाओगे। जो बातें होंगी, तुम्हारे सामने होंगी।'* पर कह न सकी। हर पिता और भाई जतन करते हैं। हर लड़की प्रतिकूलन से गुजरती है। कुछ क्षण व्यर्थता-बोध में बीते। तब रूपक ने मुँह खोला, ''परेशान हो, मैंने यहाँ बुलाया?''

''ओ... हाँ... नहीं...।''

''मुझे तुम, तुम्हारा परिवार अच्छा लगा। तुम सब सचमुच अच्छे लोग हो।

एक-दूसरे को समझते हो।''

''धन्यवाद।''

''पर मेरे परिवार में यह बात नहीं है। पापा ने मेरी दोनों बहनों को पूरी शिक्षा नहीं दिलायी। किसी तरह ब्याह कर पिंड छुड़ा लिया। जो है, जैसा है उसे अपना भाग्य समझकर वे दोनों निभा रही हैं। जब भी बहनों से मिलता हूँ, पछतावा होता है, उनके लिए कुछ कर पाता। मैं बहनों से छोटा हूँ, तब मेरे हाथ में कुछ नहीं था। मेरे नाना ने मेरी पढ़ाई में पैसा लगाया वरना पापा के भरोसे आज मैं मास्टर होता या कम्पाउंडर।''

''मेरा मानना है सभी की एक नियति होती है। आप डॉक्टर ही बनते।''

''डॉक्टर बन कर मैं एक हुंडी हो गया जिसे पापा चालीस-पचास लाख में भुनाना चाहते थे। इसी कारण मैंने कुछ अच्छे प्रस्ताव खो दिये।''

काशी क्षुब्ध हुई– रूपक ने अपने माता-पिता का लिहाज करना ही नहीं छोड़ा है, उन्हें गलत भी ठहरा रहा है। वह भी एक अल्प-परिचित लड़की के सामने। विचित्र बात है। बोली, ''मेरे पापा से उन्होंने डिमांड नहीं की।''

''पाँच साल पहले की स्थिति अलग थी। हम लोगों में बड़ा उत्साह था। पापा को पचास लाख और मुझे मेडिको गर्ल चाहिए थी। मेरे दोनों अफेयर डॉक्टर लड़कियों से ही हुए। शादी हो जाती, पर पता चला एक लड़की का अफेयर किसी और से भी था। वह लड़का विदेश जा रहा था और वहाँ बसने के चाव में लड़की मुझे अँगूठा दिखा गयी। दूसरी लड़की के पिता को मेरे पापा ने पचास लाख माँग कर डरा दिया। मैं चाहता तो उस लड़की से शादी कर लेता पर मैं पापा के विरुद्ध नहीं जाना चाहता था। पापा ने मेरी नजरों में सम्मान खो दिया। उन्हें मेरी भावनाओं की चिन्ता नहीं तो मैंने उनकी फिक्र छोड़ दी। बोर तो नहीं हो रही हो?''

''नहीं तो।''

''काशी, मैं इस देखने-दिखाने से आजिज आ गया हूँ। जब भी आता हूँ, पापा एक-दो प्रस्ताव लिये बैठे होते हैं।''

''आप शादी नहीं करना चाहते?''

''नहीं। पापा को समझा चुका हूँ। वे नहीं मानते। काशी तुम मुझे गलत तो नहीं समझोगी? नहीं न? मुझे तुम सुलझे दिमाग वाली लड़की लगती हो, इसलिए कह रहा हूँ। मैं शादी कर चुका हूँ। अपने ऑफीसर की बेटी से।''

काशी ने बहुत कुछ सोचा था, बस यही नहीं सोचा था।

''मतलब?''

''मेरी शादी हो चुकी है। जहाँ पापा की माँग पूरी होती थी, वहाँ मुझे लड़की पसन्द नहीं आती थी। जहाँ लड़की पसन्द आती, पापा की माँग पूरी नहीं होती थी। मैं क्या करता? मुझे यही समझ में आया।''

काशी ने देखा एक थका, द्विविधाग्रस्त, पराजित-सा चेहरा ठीक सामने है। क्या है यह चेहरा? फरेबी या खरा? इस पर कैसे विश्वास करें? स्थिति थी मूर्छित होने की किन्तु काशी ने खुद को सँभाल लिया।

''तो आप मुझे देखने क्यों आये? आपके पापा ने आपको मेरी फोटो मेल की आप तभी कह देते फोटो पसन्द नहीं।''

''पापा ने मुझे फोटो नहीं भेजी।''

''भेजी। तभी तो आप तीन मई को आने वाले थे। छुट्टी रद्द हुई। आ न सके।''

''नहीं। मैं अपने निर्धारित कार्यक्रम पर ही आया हूँ। पापा तुम लोगों को बेवकूफ बनाते रहे। मैं यहाँ आया तब मुझे पता चला वे फिर प्रस्ताव लिये बैठे हैं। सोचा इनके सन्तोष के लिए लड़की देख लेता हूँ। कह दूँगा लड़की पसन्द नहीं आयी। पर तुमसे और तुम्हारे परिवार से मिलकर पता नहीं क्यों लगा मैं कहीं गलत हूँ। काशी, तुम मुझे गलत समझो पर सच कहता हूँ तुम्हें देख कर चाह जागी है, मैंने शादी न की होती।''

काशी की आँखे भर आयीं, ''कितना आसान है आपके लिए यह सब कह देना। मेरे घर में तैयारी चल रही है।''

''काशी प्लीज।''

''आप अपने पापा को सबकुछ बता दें।''

''हिम्मत नहीं होती। हम खुद को कितना ही आजाद मानें पर कुछ फैसले कठिन होते हैं। शादी का फैसला बहुत कठिन होता है। बेटा किसी का कत्ल करके आये तो पिता उसे बचाने की पूरी कोशिश करता है पर बेटा अपनी मर्जी से शादी कर ले तो माँ-बाप के स्वाभिमान को ऐसी ठेस लगती है कि वे उसे घर से बेदखल करने में भी नहीं हिचकते। वैसे मुझे डर पापा का नहीं, माँ का है। उन्हें एक बार कार्डियक अरेस्ट आ चुका है। मेरी शादी की बात सुन यदि दूसरी बार ऐसा हो, सोच कर परेशान हूँ। मेरी नाराजगी पापा से है। माँ बेचारी क्या करे? घर में उनकी कभी नहीं सुनी गयी।''

रूपक के चेहरे में क्षोभ और याचना के भाव थे।

''बात छिपाकर आप अपने

माता-पिता का मजाक बना रहे हैं। वे चाहे जहाँ लड़की देखने चल पड़ते हैं।''

''तुम पापा की जिद को नहीं जानती। बता दूँ मैंने शादी कर ली है तो वे इस शादी को कानूनी नहीं मानेंगे। मानेंगे तो कहेंगे तलाक दे दो।''

काशी मोहभंग की स्थिति में थी।

''आपके परिवार में जो भी परेशानी है, पर किसी दूसरे परिवार को परेशान करने का आप लोगों को हक नहीं है।''

''इसीलिए तुमसे इतना कुछ कह डाला। कहा न, तुमसे मिलने के बाद मुझे लगा, अब यह नाटक बन्द होना चाहिए।''

''घर वालों से साफ बात कीजिये।''

''हाँ... मैं चाहता हूँ यह काम तुम करो।''

रूपक इस विश्वास से काशी को देख रहा था मानो उसे एक सदी से जानता है।

''आप पागल... सॉरी...।'' काशी को लगा वह एक विक्षिप्त व्यक्ति के समीप बैठी है।

''काशी, समझो। मैं पागल नहीं हूँ।'' रूपक के चेहरे में निवेदन था। ''तुम कहो, मुझे रूपक पसन्द नहीं है। कह दो, तुम मेरे अनुसार खुद को नहीं ढाल सकोगी। कह दो, रूपक की उम्र कुछ अधिक है। तालमेल नहीं बैठेगा। कुछ भी कह देना।''

''मेरा कुछ कहना साबित नहीं करेगा कि आप शादी कर चुके हैं।''

''पापा को सबक जरूर मिलेगा। वे लोगों से कहते-फिरते हैं कि हमने अब तक पैंतीस लड़कियों को रिजेक्ट किया है। उन्हें पता तो चले, हमें भी कोई नापसन्द कर सकता है। तुम शादी से मना करोगी, पापा बौखला जायेंगे। मैं पी.जी. के एन्ट्रेंस एग्जाम का बहाना कर वापस चला जाऊँगा। फिर फोन पर सच बता दूँगा।''

अप्रत्याशित हमला।

काशी को सूझता न था, क्या करे। पर्स से सेलफोन निकाला।

''मैं भैया से बात करना चाहती हूँ।''

विधान ने आते ही परख लिया माहौल बुझा हुआ है। काशी सिर झुकाये बैठी है। रूपक इधर-उधर ताक रहा है। वह मुस्कराया, ''मेरे बिना आप लोग बोर तो नहीं हुए?''

''भैया, तुम बड़ी देर बाद आये।'' काशी की आँखें भरी हुई थीं।

तो काशी जैसी लड़की भी इसे पसन्द नहीं आयी? इसे आसमान की परी चाहिए या सिनेमा की हीरोइन?

''हाँ, बस। कॉफी हाउस के सामने कुछ दोस्त मिल गये। मैं खाना ऑर्डर करता हूँ। बड़ी भूख लग रही है।''

खाना खत्म कर पाँच सौ पचास रुपये वाले बिल को रूपक ने झपट लिया, ''विधान, तुम दोनों आज मेरे गेस्ट हो। पेमेंट मैं करूँगा।''

चलते-चलते बोला, ''तुम दोनों से मिलकर अच्छा लगा। ये मेरा सेल नम्बर है। जब भी चाहो, मुझसे बात कर सकते हो। कभी आओ उधर, दक्षिण भारत देख लो।''

रहस्योद्घाटन पर भूचाल आना ही था।

मधु नियन्त्रण न रख अशिष्ट हो गयी, ''मक्कार लड़का और फ्रॉड माँ-बाप। हमारा खाना हजम कर गये। रुपये हड़प गये।''

सदानन्द ने कटाक्ष किया, ''रुपये? मधु तुम तो कपड़े भी देना चाहती थी। मैंने मना किया कि बात फाइनल नहीं हुई है।''

मधु ने सदानन्द पर हिंसक दृष्टि फेंकी, ''हम भले लोग हैं और सोचते हैं, दूसरे भी भले होंगे।''

''मधु चुप रहो। ठंडे दिमाग से सोचने दो।''

विधान ने रोका, ''आप दोनों लड़ने न बैठो। काशी परेशान है, उसकी तरफ ध्यान दो।''

सदानन्द सँभल गये, ''विधान, कहो, क्या करना चाहिए?''

''बात खत्म करनी चाहिए।''

''मुझे नहीं लगता, रूपक शादी कर चुका है। करता तो घर में बता देता। वह माँ-बाप के सामने जिस तरह ऐंठा रहता है, देख कर नहीं लगता उसमें हिम्मत नहीं है बताने की।'' मधु तर्क भिड़ाती रही।

''माँ, मैं तो इसे रूपक की ईमानदारी कहूँगा। वरना वह सच बताये बिना लौट जाता और हम यहाँ गुरुजी की जी हुजूरी में लगे रहते।''

विधान की बात से सदानन्द को मानसिक बल मिला। ''बिल्कुल। रूपक ने शादी की-नहीं की, उसका मामला है। अच्छी बात यह रही, उसने हमें धोखा नहीं दिया। गुरुजी अधीर थे ही, हम भी रूपक को देखकर मोहित थे। शादी हो जाती तब क्या होता, सोचकर घबराहट होती है।''

मधु नहीं रुकी, ''हमारे साथ इतना बड़ा धोखा होता तो हम रूपक की नौकरी दाँव पर लगा देते।''

काशी देर से चुप थी, ''माँ, तुम उसे जो भी सजा दिलाती पर मेरी जिन्दगी तो प्रभावित हो जाती न! बन्द करो बहस। मुझे घबराहट हो रही है।''

उधर भी यही हाल था।

रूपक को अचानक जाने की तैयारी

करते देख गुरुजी बौखला गये, ''अभी तो छुट्टियाँ हैं न?''

''जाना है।''

''सदानन्दजी को क्या जवाब दूँ?''

''मना कर दीजिये।''

''कारण क्या बताऊँ?''

''जो ठीक समझें। कह चुका हूँ, लड़की न देखें पर आप मानते नहीं।''

''मैं खुद नहीं जाता। लोग सम्मान से बुलाते हैं। तुम तो बाहर जाकर बैठ गये, लेकिन मुझे इसी समाज में रहना है। लोग पूछते हैं, लड़का बुढ़ा जायेगा तब उसकी शादी करेंगे?''

जवाब न दे रूपक छत पर चला गया।

गुरुजी का कोप गंगी पर बरसा, ''देख लो सपूत को! डॉक्टर क्या बन गया, बाप को अर्दली समझने लगा। यह पछतायेगा। काशी-जैसी लड़की अब नहीं मिलेगी। इतना प्रतिष्ठित परिवार। हमारी भी प्रतिष्ठा बढ़ती। तुम उसे कुछ कहती नहीं, वह लिहाज छोड़ता जा रहा है।''

''इसीलिए नहीं कहती कि जो थोड़ा-बहुत लिहाज है, वह बचा रहे। साल-डेढ़ साल में आ जाता है, फिर कहो न आये। गलती हमने की है, वरना अब तक रूपक की शादी हो जाती।''

माहौल में व्याप रहा तनाव देख गंगी ने ये नहीं कहा कि तुम्हारे लोभ ने आज यह दिन दिखाया। वह असहायता में रोने लगी।

रूपक हर बार इसी तरह लौटा है।

हर बार कलह हुई है।

गुरुजी को पहले ही कष्ट बहुत था, सदानन्द ने कॉल कर कष्ट को बढ़ा दिया। सदानन्द की आवाज सुन गुरुजी भभक उठे, ''एक सप्ताह हुआ, डॉक्टर साहब चले गये वापस। उस दिन रेस्टोरेन्ट में जो भी बात हुई हो डॉक्टर साहब तब से अनमने थे और...''

''क्या बात हुई काशी बतायेगी। लीजिये बात कीजिये।''

सदानन्द ने रिसीवर काशी को थमा दिया।

''नमस्ते अंकल... मैं ठीक हूँ... डॉक्टर साहब से मेरी खुलकर बात हुई। हम दोनों के विचारों में बहुत अन्तर है। मेरा मानना है इस साइबर युग में कुंडली नहीं, कैमिस्ट्री मिलानी चाहिए। हमारी कैमिस्ट्री बिल्कुल नहीं मिलती। डॉक्टर साहब की उम्मीदें इतनी अधिक हैं कि मैं तालमेल नहीं बना सकूँगी।''

गुरुजी सदमे में। यह घमंडी लड़की रूपक-जैसे सर्वगुण-सम्पन्न लड़के को अस्वीकार कर रही है। और असभ्यता देखो... सीधे मुझसे सम्बोधित है कि रखो अपना लड़का अपने पास। और यह कैमिस्ट्री मिलान क्या होता है?

''काशी, डॉक्टर साहब की कोई बात बुरी लगी हो तो मैं उन्हें समझाऊँगा।''

''मुझे उनकी बातों के आधार पर फैसला नहीं लेना है।''

बहुत कुछ खो देने की निराशा ने गुरुजी को ध्वस्त कर दिया। लड़का तो रूठा ही है, अब लड़की वाले ऐंठने लगे हैं। इतना पतन! वे दीवान पर ढह गये। पसीना चुहचुहाने लगा। अस्वीकार की पीड़ा, दंश, निराशा क्या होती है, पता नहीं था। आज पता चला अस्वीकार, भूत, वर्तमान, भविष्य को एक बड़े शून्य में बदल देता है।

''क्या हुआ?'' गंगी समीप आयी।

''काशी, शादी से इंकार करती है।''

''पागल हो गयी है?''

''अरे, हम इस घमंडी लड़की से बच गये। रूपक तो ऐंठा ही रहता है, यह हमें चाकर बना लेती।''

''रूपक को क्या कहेंगे?''

''कहना, तुम्हें लड़कियाँ रिजेक्ट करने लगी हैं। काशी को मना लो वरना कुँवारे बैठे रहोगे।''

''मैं रूपक से बात करूँगी। तुम गुस्से में बात करते हो। बहस हो जाती है। नतीजा नहीं निकलता।''

गंगी ने फोन पर रूपक से बात की, ''हाँ सब ठीक है... तुम ठीक हो न... तुमने कुछ ठीक जवाब नहीं दिया और अब काशी शादी से मना करती है। पछतायेगी बेवकूफ लड़की।''

रूपक हँसने लगा।

''तुम हँस रहे हो, मैं उसे गाली दे रही हूँ।''

''माँ बख्श दो बेचारी को। कुछ कारण बताया?''

''कहती है, विचार नहीं मिलते। यह कौन-सा कारण है?''

''माँ लड़की सुखी रहेगी क्योंकि इसे स्पष्ट बोलना आता है। तुम्हें अजीब लगेगा पर इस लड़की ने मुझे हौसला दिया है... मैंने शादी कर ली है... एक साल हुआ। मैं लड़की देखने की नौटंकी करते हुए परेशान हो गया था। पापा को बोल दो, अब किसी लड़की वाले को उम्मीद न दें...''

गुरुजी ने देखा गंगी का चेहरा स्याह होता जा रहा है।

''गंगी, रूपक ठीक तो है न? यहाँ से तनाव में गया था? बात क्या है?''

बात जो थी गंगी बता नहीं सकती थी।

द्वारा श्री एम.के. मिश्र,
जीवन विहार अपार्टमेंट,
फ्लैट नं. 7, द्वितीय तल,
महेश्वरी स्वीट्स के पीछे, रीवा रोड,
सतना-485001 (म.प्र.)
मो. 8269895950

कोठी की भव्यता का आतंक बूँद-बूँद जेहन में टपकने लगा। उसका दिल धक-धक कर उठा। इतने सम्मानित भद्रलोक! बारह सौ की मामूली रकम के लिए घर आकर मरीजों के बीच तगादा करना ठीक रहेगा?

बकुल बाउरी की
हिचक-कथा

महावीर राजी

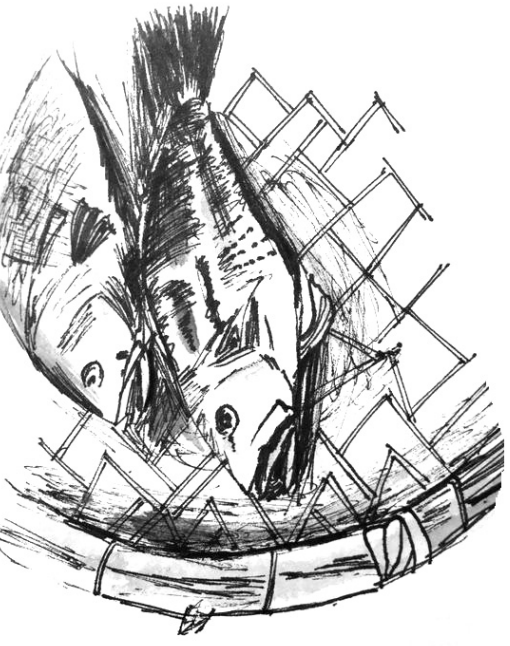

उतरते बैशाख का महीना! जेठ की तपिश-भरी गर्मी का पूर्वाभास कराता मौसम। दोपहरी के लगभग तीन बजे का समय।

जैसे ही ट्रेन ने जानी-पहचानी 'पौंऽऽऽ' की लम्बी कर्कश फूत्कार छोड़ी, पहिये पलक झपकते गन्तव्य की ओर लुढ़कना शुरू कर दिये। ईएमयू ट्रेनों की फितरत होती है कि इंजिन का बिगुल बजा नहीं कि गाड़ी आनन-फानन गति पकड़ने लगेगी। बकुल बाऊरी लम्बे-लम्बे डग भरता प्लेटफॉर्म में घुसा ही था कि नजरें ट्रेन के लुढ़कते पहियों पर पड़ी। उसकी आँखों मे चीते की-सी फुर्ती भर आई। इसके पहले कि ट्रेन की रफ्तार और तेज होती, दो-चार बड़ी छलाँगें मारने के बाद सिद्ध जिम्नास्ट की तरह ऐसी उछाल भरा कि भागते डिब्बों में से एक में सवार होने में सफल हो ही गया। एक क्षण को लगा जैसे वह क्रिकेट का बॉल हो जिस पर 'प्लेटफॉर्म एंड' से रोहित शर्मा ने शॉट लगाया हो और बॉल सीधे 'बॉगी एंड' पर खड़े धोनी के ग्लब्स में समा गयी हो। उसे क्रिकेट

का ज्ञान बस 'किसने चौका-छक्का मारा... कितने रन बने... कौन आउट हुआ...' से ज्यादा नहीं था पर चूँकि क्रिकेट मैच देखने का शौकीन था और रोहित-धोनी का जबरदस्त फैन भी, अपनी कल्पना पर खुश हो गया। ट्रेन फुल स्पीड पकड़ चुकी थी। बकुल की साँसें अस्वाभाविक रूप से तेज थीं। तेज चलतीं साँसों को सम करने में कुछ समय लगा। साँसें स्थिर हुईं तो बकुल ने सीट की तलाश में नजरें चारों ओर दौड़ाईं। एक भी सीट खाली नहीं दिखी। बल्कि इक्का-दुक्का यात्री बीच के गलियारे में खड़े भी थे। बकुल नजरों में खोजी तासीर लिये सीट तलाशता आगे की ओर बढ़ने लगा।

तो जी... बकुल जब तक सीट तलाशने में लगा है, क्यों न उसकी जन्मपत्री का थोड़ा तिया-पाँचा बाँच लिया जाय! बकुल बाऊरी सियालदह से कुछ दूर नैहाटी में रहता है। वहाँ 'माछेर बाजार' में उसकी छोटी गुमटी है जहाँ मछली बेचा करता है। कुछ दिनों पहले तक गुमटी में उसकी पत्नी सोना बैठती थी और वह टोकरी में मछली भर कर नयी बस रही कॉलोनियों व सोसायटियों में फेरी किया करता था। सोना कसे बदन की बहुत ही खूबसूरत युवती थी। रंग ऐसा जैसे नख से शिख तक सोने का झोल चढ़ा हो काया पर। मोटी-मोटी आँखों में हर वक्त दो मृग शावक कुलाँचें भरते रहते। बोलने वाले कानाफूसियों में ये भी बोल जाते कि दलितों में भला ऐसी सुन्दरता सम्भव है क्या! कुछ तो गड़बड़ है! बकुल इन सब बातों को बीड़ी के धुएँ में उड़ा देता और प्यार से उसे सोनमाछ (सोन मछली) पुकारता– ओ गो आमार सोनमाछ... (ऐ मेरी सोन मछली)! गुमटी में ग्राहक मछली देखते-देखते मृग शावकों की कुलाँचों में खोने लगते। कुलाँचों के सम्मोहन में फँसी उनकी नजरें फिर सोनमाछ की देह के पूरे 'रनवे' पर रेंगने लगतीं। कोई-कोई तो मछली तुल जाने के बाद झोले में डलवाते समय बहाने से उसकी हथेलियों को छूने की कोशिश कर बैठता। डॉ. मदन मुखर्जी पहली बार जब उसे देखे तो देखते रह गये। टिन के टपरे वाले बड़े-से प्रांगण में छोटी-छोटी गुमटियों की कई कतारें थीं। वे माछेर बाजार तो रोज ही आते, पर इस कतार की ओर पहली बार आना हुआ और आये तो ऐसे आये कि सोना के परमानेंट ग्राहक बन कर रह गये। आधा किलो मछली खरीदने में आधा घंटे का समय कब बीत जाता, खुद उन्हें भी पता नहीं चलता। हँसी-मजाक करतीं और मृग शावकों से खेलतीं पोस्टमार्टमी नजरें सोना की देह के हर ओने-कोने का सफर कर आतीं। अन्त मे झोले में मछली डलवाते समय उसकी हथेलियों का स्पर्श सुख! ऐसी बात नहीं थी कि सोना उनकी चालाकियों को न समझ रही हो, पर कुछ तो उम्र के लिहाज में और कुछ ग्राहक होने के लिहाज में हँस कर रह जाती। एक दिन डॉ. मदन मुखर्जी के यहाँ कोई पार्टी थी शायद। सुबह-सुबह प्रथम ग्राहक बन कर नमूदार हुए सोना के सामने।

''ऐ सोना, आज पाँच सौ ग्राम नहीं, पाँच किलो माछ चाई (चाहिए) रे...!'' मृग शावकों को दुलराते हुए डॉ. मुखर्जी मुस्कराये, ''बाड़ी (घर) मे पार्टी आछे। पर कोई जल्दी नहीं है, पहले अन्य ग्राहकों को दे दो...! हम इन्तजार कर रहा...!'' फिर पटरे पर एक ओर बैठ कर मछली तौलती सोना की देह की थिरकन को चोर नजरों से निहारने में लग गये। 'साधना' तब टूटी जब आधा घंटे बाद सोना खिलखिलाई, ''काका बाबू, कहाँ खो गये? माछ तौल दिया।'' फिर झोले में मछली डलवाते समय स्पर्श सुख से क्यों चूकते भला? पैसे देने के लिए जेब मे हाथ डाला तो चौंक पड़े। पर्स नहीं था वहाँ। खुद को कोसते हुए हिनहिनाये, ''ज्जा साला, पर्स घर पर छूट गया रे!'' मृग शावक चौकड़ी भरते हँसे कि कोई बात नहीं। आप तो हमारे परमानेंट ग्राहक हैं, कल दे दीजिएगा। इस तरह डॉक्टर साहब पूरे बारह सौ की उधारी लेकर घर लौट आये।

फिर ऐसा हुआ कि दूसरे दिन सोना ने बकुल को साफ-साफ मना कर दिया कि अब वह दुकान में नहीं बैठेगी। ग्राहक मछली को नही, 'सोनमाछ' को ज्यादा देखते हैं। गन्दे-सन्दे इशारे करते उसे छूने की चेष्टा करते हैं। अब घर मे ही रहेगी और गर्भ में अंकुरित हो आये मेहमान की अगवानी की तैयारी करेगी। बकुल को उसकी बात ठीक लगी। घर-घर की फेरी से उसका भी जी ऊब गया था। सो अगले दिन से सोना की जगह गुमटी में वही जाने लगा।

दूसरे दिन डॉ. मुखर्जी माछेर बाजार आये तो उन्हें खबर लगते देर न लगी कि सोना की जगह अब से दुकान में बकुल बैठेगा। सोना के आकर्षण का तिलिस्म टूटा तो कदम बकुल की ओर न बढ़ कर दूसरी कतार की ओर बढ़ गये जो बकुल की दुकान से दूर थी। बकाया चुकाने की बात पर जेहन में मनोज भटनागर के आप्त वचन नाच गये कि शुद्र और दलित ताड़न के अधिकारी होते हैं और उनका कोई बकाया तब तक न दिया जाय जब

तक तगादे का दबाब तीन-चार परत चढ़ कर भारी न हो जाए।

फिर नित्य का यही क्रम बन गया। बाजार आते तो बकुल की दुकान की ओर जाने से बचने लगे। इस तरह बीस दिन निकल गये। बकुल बाऊरी फुटकर विक्रेता था। एकमुश्त बारह सौ की रकम उधारी में फँस गयी तो महाजनों को पेमेंट देने में दिक्कत होने लगी। मदन मुखर्जी रोज ही बाजार आते, बकुल को रोज ही दूर खरीददारी करते दिख भी जाते, पर बकुल पास जाकर इतने लोगों के बीच तगादा करने का साहस नहीं जुटा पाता। मदन बाबू के इधर आने की प्रतीक्षा करते रह जाता और वे उधर की उधर भीड़ में बिला जाते।

देखते-देखते पूरा महीना बीत गया। अब क्या किया जाय! अन्ततः एक दिन सोना के समझाने पर बकुल तगादा का पक्का मन बना कर उनकी कोठी की ओर चल पड़ा। कोठी हिल व्यू के पॉश इलाके में थी। एशियन पेंट की हल्की गुलाबी चुनरी ओढ़े दो तल्ला शानदार कोठी! बाहर ग्रील वाले गेट पर बोगनबेलिया की लतरें। भीतर आहाते में एक ओर छुईमुई-सी 'इंडिका'! दायें हॉल में चैम्बर! कुछ मरीज भीतर थे और कुछ बाहर इन्तजार कर रहे थे। कोठी की भव्यता का आतंक बूँद-बूँद जेहन में टपकने लगा। उसका दिल धक-धक कर उठा। इतने सम्मानित भद्रलोक! बारह सौ की मामूली रकम के लिए घर आकर मरीजों के बीच तगादा करना ठीक रहेगा? बमक गये तो...? जरा-सी भी शर्म नहीं आयी यहाँ आकर तगादा करते, आँय! कहीं भागे जा रहे हैं क्या? गुस्से में दो-चार झापड़ भी ठोक सकते हैं! उसको पसीना छूटने लगा। भय से धड़कन बढ़ गयी। कुछ देर जोकर की तरह एक ओर खड़ा रहा। कोठी के सामने रोड की दूसरी ओर बरगद का पेड़ था। पेड़ की कंगारू-गोद में चाय-पकौड़ी की गुमटी! धड़कते दिल को बच्चे की तरह दुलराता गुमटी में चला आया। वहाँ बैठ कर देर तक सामने चैम्बर को निहारता रहा। शायद डॉक्टर बाबू किसी काम से बाहर निकलें और दैवीय संयोग से नजरें उस पर पड़ जाय! ऐसा हुआ तो हाथ हिला कर अभिवादन करता हुआ अपनी उपस्थिति का संकेत दे देगा। फिर उधारी देते डॉक्टर साहब को देर नहीं लगेगी।

पर... पर सारा कुछ मुँगेरी लाल का हसीन सपना साबित हुआ। दो घंटे बीत गये, डॉक्टर बाबू बाहर नहीं निकले। इच्छा नहीं थी, फिर भी गुमटी में बैठने के लिहाज में एक प्लेट पकौड़ी और दो बार चाय लेनी पड़ी। इस तरह बकुल बाऊरी बारह सौ की वसूली तो दूर की बात, पूरे पन्द्रह रुपये का चूना लगवा कर कहावत के 'बुद्धू' की तरह घर लौट आया।

अब यहाँ थोड़ा ठहर कर डॉक्टर मदन मुखर्जी के बारे में जान लें तो कहानी को समझने में आसानी होगी। मदन बाबू बहुत पहले कोलकाता की एक निचली बस्ती में रहते थे और तब मदन मुखर्जी नहीं, मदन माझी हुआ करते थे। पढ़ने में बकलोल पर खुराफाती व तिकड़मी दिमाग के विलक्षण जीव! जैसे-तैसे बीए किया। उसके बाद पढ़ाई छूट गयी और सारा संघर्ष एक अदद नौकरी हासिल करने में केन्द्रित हो गया। कॉलेज के दिनों के उनके एक यार थे- मनोज भटनागर! बकलोली में मदन माझी से दो कदम आगे! न जाने कैसे भटनागर जी दक्षिण के एक नामी शहर के एक बड़े एनजीओ से जुड़ गये। एनजीओ उनके लिए बोधि बृक्ष साबित हुआ और उसकी शरण में जाते ही भटनागर के भीतर दिव्य ज्ञान का ऐसा विस्फोट हुआ कि वे राजनीति, विज्ञान, धर्म, वेद, पुराण, उपनिषद और राष्ट्रवाद जैसे किसी भी विषय पर धुआँधार बहस करने में पारंगत हो गये। दक्षिणी शहर में शिफ्ट हो जाने के बाद भटनागर का मदन बाबू से सम्पर्क लगभग छूट चुका था। एक दिन मदन माझी को अखबार में उनकी फोटो दिख गयी, प्रदेश के मुख्यमन्त्री के साथ चाय पीते हुए! मदन बाबू की आँखें फटी की फटी रह गयीं- एतो ऊँचो लाफ... (इतनी ऊँची छलाँग...)! कॉलेज के दिनों का लँगोटिया याराना जेहन में चिलक गया। किसी तरह मोबाइल नम्बर जुगाड़ कर सम्पर्क साधा और उन्हें अपनी बेकारी का मर्सिया सुनाया।

''दुखी मत हो यार...? हमारा एनजीओ है न! बहुमुखी सेवा प्रदान करने वाला देश का सर्वश्रेष्ठ संगठन! रोजगार मुहैय्या कराने के कई सारे पैकेज हैं यहाँ।''

''पैकेज...?''

''यस! यहाँ सबकुछ पैकेज से होता है। कुछ खर्च जरूर होगा, पर काम सौ फीसदी गारेंटिड।'' घनी मूँछों के पीछे मुस्कराये भटनागर जी, ''तुम तो एससी हो। ढेर सारी रियायत दिला देंगे।''

मदन बाबू को अपने शहर बुला कर एनजीओ में बाकायदा दीक्षित किया गया। फिर रोजगार पैकेजों को खँगाल कर होम्योपैथी डॉक्टरी के आसान से पेशे का चयन हो गया।

''डॉक्टरी की पढ़ाई अपने बस की नहीं मनोजदा..।'' मदन बाबू हिनहिनाये।

''यार, तुम्हें कुछ नहीं करना है। इंस्टिट्यूट में हमारे लोग हैं, सब सँभाल लेंगे।''

सरकारी सहायता-प्राप्त एक ख्यात होम्यो इंस्टिट्यूट से छह माह का क्रैश कोर्स! मदन बाबू को एससी कोटे में एडमिशन के साथ-साथ न केवल फीस में, एग्जाम के पास मार्क्स में भी भारी छूट मिल गयी। छह माह की पूर्णाहुति पर इंस्टिट्यूट से डॉक्टर बन जाने का सनद-पत्र पाने में कोई कठिनाई नहीं आयी। एनजीओ की कृपा से सबकुछ आसानी से मैनेज हो गया। कुछ दिनों बाद कोलकाता की बस्ती वाली बाड़ी (घर) के सामने वाले रूम, जो रोड की ओर खुलता था, मदन बाबू चैम्बर खोल कर बैठ गये। बाहर साइनबोर्ड का सलीब टँग गया– 'डॉ. मदन माझी! एक्यूट और क्रोनिक रोग विशेषज्ञ!' भाग्य ने साथ दिया। आसपास कामगार, मजूर और निम्नवर्ग के लोगों की बस्ती थी! कुछ तो किताबें देख कर और कुछ अनुभव से, इलाज चलने लगा। सस्ते इलाज के लोभ में मरीज आने लगे। कुछ ठीक हुए, कुछ नहीं भी हुए होंगे। जो ठीक हुए उनसे प्रचार मिला और प्रैक्टिस सरपट दौड़ने लगी। चार-पाँच साल में खासी पूँजी जमा हो गयी।

आर्थिक स्थिति मजबूत हुई तो मन में नयी खुराफातें मेंढक-सी उछाल मारने लगीं। धन तो खूब कमा लिया, लेकिन इज्जत ...! इज्जत तो दो कौड़ी की ही रही न! नाम के साथ कमबख्त 'माझी' सरनेम जो जुड़ा है! माझी... यानी एससी! हँह! एससी वाले से कोई सम्भ्रान्त परिवार क्यों दोस्ती रखना चाहेगा? कोटे से बने डॉक्टर के पास वैसे भी अच्छे लोग इलाज के लिए नहीं आते। उदासी के ऐसे ही बैचेन क्षणों में अचानक भटनागर की याद कौंध गयी। तुरन्त फोन मिलाया और हिचकते-हकलाते मन की गाँठ खोल दी कि किसी उपाय से 'माझी' सरनेम को इरेज करके वहाँ कोई सवर्ण टाइटिल चिपकायी जा सकती है क्या! सुनकर भटनागर जी ठहाका लगा कर हँस पड़े, ''अरे मोशाय, मैंने कहा था न हमारे लिए कोई काम असम्भव नहीं। बहुमुखी सेवा प्रदान करता है हमारा संगठन। पैकेज पर! हमारे धुरन्धर इतिहासज्ञ और ज्योतिर्विदों को तुम्हारी दस-पन्द्रह पीढ़ियों के इतिहास को खँगाल कर दुरुस्त करने में चुटकी-भर समय लगेगा...!''

''सच...?'' मदन बाबू के बदन में ऊपर से नीचे तक रोमांचक खुशी सरसरा गयी।

''नहीं तो क्या झूठ?'' घनी मूँछों के नीचे आत्मविश्वास-भरी मुस्कराहट पसरी थी, ''लगता है तुम मीडिया की खबरों को नहीं देखते। अरे, हमारे लोगों के गहन शोध ने ही साबित किया कि सीता विश्व की पहली टेस्टट्यूब बेबी थी और महाभारत काल में इंटरनेट मौजूद था। तभी संजय कुरुक्षेत्र के युद्ध का आँखों-देखा हाल धृतराष्ट्र को घर बैठे सुना सके। गणेश का सर काट देने के बाद उनके धड़ पर हाथी का सर शिवजी ने यूँ ही थोड़े ही चेप दिया? प्लास्टिक सर्जरी मौजूद थी उस समय! जब हम देश के इतिहास-पुराण का पुनर्लेखन कर सकते हैं तो... तो तुम्हारा काम तो मामूली है यार!''

महीने-भर में एनजीओ के विशेषज्ञों ने मदन बाबू की पिछली दस पीढ़ियों के इतिहास का तिया-पाँचा बाँच कर फतवा दिया कि उनके पुरखे मूल रूप से 'मुखर्जी' थे। उच्च कुल के शुद्ध ब्राह्मण! बहुत पहले पड़ोस में एक माझी परिवार रहता था। 'माझी' का मतलब होता है पार ले जाने वाला नाविक। पार... यानी भवसागर के पार! अजीब-से देवत्व की आभा फूटती है इस शब्द से। इसी से प्रेरित होकर पुरखों ने मुखर्जी की जगह 'माझी' लिखना शुरू कर दिया। वैसे भी माझी और मुखर्जी हिज्जे व उच्चारण के स्तर पर काफी करीब हैं। मदन बाबू की जाति के उत्स को पूरी प्रमाणिकता के साथ 'मुखर्जी' से जोड़ कर दस्तावेज बनें और कोर्ट की मुहर लग जाने के बाद मदन बाबू ने नाम के साथ 'मुखर्जी' की कलगी लगानी शुरू कर दी। इस ऐतिहासिक बदलाव के कुछ दिनों बाद ही उन्होंने पुरानी बस्ती को अलविदा कह दिया और मुख्य शहर से दूर नैहाटी के औद्योगिक नगर में आ बसे।

सवर्ण होते ही उनके भीतर एक किस्म की जातीय श्रेष्ठता का भाव अँखुआने लगा। चाल में अकड़ आ गयी। वस्त्र भी पहले के ढीले-ढाले की जगह आधुनिक सम्भ्रान्त परिवार के-से हो गये। 'माझी' रहते हमेशा 'मनसा माई' कुलदेवी बनी रहीं, अब सवर्ण होते ही 'माँ दुर्गा' की उपासना करने लगे। चैम्बर में मरीज से पहले नाम पूछते। लेबर-टाइप मरीज आमतौर पर सरनेम सहित पूरा नाम बता देते। कोई होशियार मरीज यदि अधूरा नाम बताता तो फनफना उठते कि वे जाति-पाँति में विश्वास तो नहीं करते, पर प्रिस्क्रिप्शन पर लिखने के लिए सरनेम जानना जरूरी है। मरीज यदि एससी-एसटी होता तो छूने से यथासम्भव परहेज करते और जरूरी बात पूछपाछ कर दूर से ही दवा दे देते। रात को अक्सर सपने में भटनागर जी प्रगट हो जाते। भटनागर जी की

खोपड़ी में भरा बोधिसत्व ओवरफ्लो होकर टप-टप मदन बाबू के जेहन में टपकने लगता– ''वत्स, एससी-एसटी वालों को भगवान ने बनाया ही है ऊँची जाति की सेवा करने के लिए। तुलसी बाबा ने कहा है, शुद्र ताड़न के अधिकारी होते हैं। उन लोगों से कुछ खरीदो तो तब तक पैसे देने की जरूरत नहीं जब तक तगादे का दबाब तीन-चार परत चढ़ कर भारी नहीं हो जाए। उन्हें ताड़ना देकर हम वैदिक परम्परा का निर्वाह ही करेंगे। बस हाव-भाव से और छोटे-मोटे न्याय देकर अपनी श्रेष्ठता का रौब कायम रखो।''

पत्नी आधुनिक विचारों वाली महिला थी। हल्के से विरोध करती कि इस तरह एससी वालों से कितना परहेज रख सकेंगे! हमारे अधिकांश दैनिक कामों में उन्हीं का योगदान रहता है। ये दूधवाला, रिक्शावाला, सब्जीवाला आदि अधिकांश एससी-एसटी ही तो हैं। जिससे हम माछ खरीदते हैं वो बकुल बाऊरी दलित है। मदन बाबू पत्नी को डपट देते। माछ घर लाने पर उसे शुद्ध जल से धोते हैं कि नहीं! धोने से वह 'ठीक' हो जाता है। सूखी चीजें उनके स्पर्श से 'खराब' नहीं होतीं। पत्नी समझ गयी कि पतिदेव पूरी तरह दक्षिणी शहर वाले भटनागर जी के सम्मोहन में फँसे हुए हैं। कुछ भी कहना बेअसर होगा। इस सम्मोहन का ही जादू था कि मदन मुखर्जी बकुल का बकाया देने से कतरा रहे थे। माछ बाजार जाते तो बकुल की गुमटी से दूर अन्य जगहों से खरीदारी करते। उस दिन अपनी कोठी के सामने वाली चाय-पकौड़ी की दुकान में बकुल को बैठे देख चुके थे। समझ गये कि तगादा के लिए ही आया होगा ससुर! उपेक्षा से मुस्कराये और 'शुद्र ताड़न के अधिकारी' जैसे आप्तवचन को स्मरण करते निरपेक्ष भाव से अपने काम मे लगे रहे।

बकुल बाऊरी सीट तलाशता चार बोगी पार कर गया। पाँचवीं बोगी में यद्यपि सीटें तो सारी भरी हुई थीं पर बीच के गलियारे में यात्री कम थे। तनिक झुककर उसने खिड़की के बाहर के नजारे पर नजर डाली। थोड़ी देर पहले एक झोंक बरसात हो चुकी थी। आकाश के विस्तृत 'रामलीला ग्राउंड' में बादलों के छौने कबड्डी खेलने में व्यस्त थे। शीतल हवा के झोंके खिड़कियों की राह घुसपैठ करते बदन से टकराये तो पोरों में दुबकी उमस-भरी थकान स्खलित होने लगी। थकान हटी तो खाली हुई जगह में घर की देहरी पर प्रतीक्षारत सोना दोनों मृगशावकों के साथ झूमती प्रकट हो गयी। सोना की सोच कर उसका मन रोमांच से भीग उठा। होंठ मस्ती में गुनगुनाने लगे– ''ओ गो सोन-माछ आमार... आमी तोमाके भालोबाशी... (ऐ मेरी सोन मछली, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ)!

तभी बकुल की निगाहें आगे की बर्थ पर बैठे व्यक्ति पर पड़ी। वह चौंक गया। अरे... मदन बाबू...! व्यक्ति की पीठ उसकी ओर थी। पीछे के धड़ और खोपड़ी की बनावट से मदन बाबू लग रहे थे। उसका कलेजा धक-धक कर उठा। तेजी से रेंगता हुआ आगे तक चला आया। मदन बाबू ही थे। सुखद आश्चर्य से उछल कर दिल कंठ में आ गया। कोठी तक जाकर भी पैसे नही माँग पाया था उस दिन। आज अच्छा मौका मिला है। एकदम पास बैठे हैं वे। अकेले भी हैं! उधारी माँगने से नहीं चुकेगा। उसे सचमुच पैसों की दरकार भी है। दो एक दिन में महाजन को पेमेंट करना है, नहीं तो साख पर आँच आएगी और माल नहीं मिलेगा। डॉक्टर बाबू सज्जन पुरुष हैं। डॉक्टरी पेशे में हजार तरह की व्यस्तताएँ होती हैं। भूल गये होंगे। याद दिलाते ही पैसा हथेली में धर देंगे।

ट्रेन खटर-खट का शोर मचाती रफ्तार से गन्तव्य की ओर दौड़ रही थी। बकुल आमने-सामने की दोनों बर्थ के पास ऐसे कोण में आ खड़ा हुआ कि डॉक्टर मुखर्जी की नजर स्वयमेव उस पर आ गिरे। नजर मिली नहीं कि दुआ-सलाम होना ही है और उसका काम आसान हो जाएगा।

लेकिन डॉक्टर बाबू की पलकें रफ्तार से दौड़ती ट्रेन के हिचकोलों से झपकी हुई थीं। बकुल ने हसरत-भरी नजरों से डॉक्टर बाबू का मुआयना किया। टस्सर सिल्क का कुर्ता और कलफ लगी झक्क सफेद धोती! ललाट पर चन्दन का छोटा-सा टीका! दायें हाथ की चारों अँगुलियों में कीमती रत्न जड़ी अँगूठियाँ! सम्भ्रान्त वेष-भूषा का आतंक बकुल की धमनियों में केंचुए-सा सरसरा गया।

तभी ट्रेन किसी स्टेशन पर झटके से रुकी तो जैसे मन्दिर के कपाट खुलते हैं, मदन बाबू की पलकें खुल गयीं। पलकें खुलीं तो बकुल संवाद सूत्र जोड़ने की गरज से हड़बड़ा कर किंकिया उठा, ''नमस्कार डॉक्टर बाबू!'' मदन बाबू चौकने का सफल अभिनय करते उस पर उड़ती-सी नजर डाले। सफल अभिनय इसलिए कि दोनों नेत्र बेशक झपके हुए थे, तीसरे नेत्र की 'संजय-दृष्टि' से बकुल को

बर्थ के पास खड़े देख चुके थे। पर अनजान बनने का ढोंग करते आँखें मूँदे रहे। बकुल बाऊरी से इस तरह ट्रेन में मुठभेड़ हो जाएगी, सोचा भी न था। उसे देख कर मन ही मन चौकन्ने हो गये। निश्चित रूप से बकुल बकाया पैसे के लिए तगादा करेगा। लेकिन अभी उसे पैसे देने का मन नहीं है। तगादा तो अभी शुरू ही नहीं हुआ! मदन बाबू ने मुस्करा कर कन्धे झटके और बकुल के अभिवादन पर थोबड़ा ऊपर उठा कर हिनहिना दिये, ''कैसा है रे बकुल? आजकल सोना दुकान पर नहीं बैठती!''

''नहीं सर, पेट से है न, इसलिए!'' कहते हुए बकुल तनिक शरमा गया। फिर मन ही मन 'मनसा माई' का ध्यान करता उधारी की बात करने वाला ही था कि मदन बाबू के सामने बैठा यात्री उनकी अँगूठियों को देख कर इस कदर चुँधियाया कि व्यंग्य का टप्पा लेकर बीच में कूद पड़ा, ''की मोशाय (ओ महाशय)... इतनी सारी अँगूठियाँ! वंडरफुल! ज्योतिष पर बड़ा विश्वास करते हैं आप तो?''

''बिल्कुल! मैं ही नहीं, सारा विश्व विश्वास करता है...! सिर्फ मुठ्ठी-भर लेफ्ट बुद्धिजीवियों को छोड़ कर...!'' मदन बाबू फनफनाये। बकुल की ओर से हट कर उनका ध्यान यात्री पर केन्द्रित हो गया था। ले हलुआ! इस भले मानुष को अभिये बीच मे टपकना था! कुछ देर रुक नही सकते थे! बातचीत का सूत्र जुड़ने के पहले ही टूट गया, ईस्स!

''हाहाहा...'' यात्री हँसा, ''ज्योतिष में न तो विज्ञान है, न ही लॉजिक! सिर्फ कल्पना की हवा-हवाई उड़ान! यहाँ पृथ्वी को ग्रह नहीं माना जाता। सूर्य स्थिर नहीं, चलायमान है। चन्द्रमा उपग्रह की जगह ग्रह! राहु-केतु भी ग्रह हैं ज्योतिष में! इतना घालमेल, फिर भी विश्वास कर रहे!''

''अधूरे ज्ञान से ऐसे ही ऊटपटाँग निष्कर्ष निकलेंगे।'' मदन बाबू की भृकुटि तन गयी, ''ज्योतिष का सम्बन्ध मात्र उन्हीं ग्रहों व नक्षत्रों से है जिनके पाश में जन्म के साथ ही बँध जाता है जीवन। ज्योतिष धार्मिक और वैदिक परम्परा का भौतिक विस्तार है बन्धु! मैक्समूलर-जैसे विद्वान ने यूँ ही नहीं कहा कि मॉडर्न साइंस जहाँ खत्म होता है ज्योतिष वहीं से शुरू होता है, बूझे?''

''सच-सच बताइये, इन रत्नों को पहनने से फायदा हुआ...?'' यात्री ने व्यावहारिक सवाल के साथ फिर कोंचने का प्रयास किया मुखर्जी बाबू को। कोंच में उपहासात्मक हँसी का छौंक डला था।

''बेशक बहुत...!'' मदन बाबू चहक कर गर्व भाव से बोले, ''सारे रत्नों से खूब लाभ मिल रहा। ये पन्ना तो कल ही लिया। तीस हजार का है! धन-वैभव और 'अच्छे दिनों' का निश्चित योग बनाता है।''

बकुल की आँखें विस्मय से चौड़ी हो गयीं। तीस हजार बनाम बारह सौ का द्वन्द्व धमाल मचाने लगा जेहन में। और अच्छे दिन...! कुछ समय पहले जोर-शोर से डुगडुगी पीटी गयी थी कि अच्छे दिन बस आने वाले ही हैं। पड़ोसियों की देखा-देखी वह भी कई दिनों तक कोठरी का दरवाजा चौबीसों घंटे खुला रखे रहा कि पता नहीं अच्छे दिन ससुर किस वक्त आ टपके दरवाजे पर! आएँ और दरवाजा बन्द मिला तो लौट न जाएँ। पर... पर सब कुछ फुस्स हो गया। सरकार यदि अच्छे दिनों को लेकर वाकई गम्भीर है तो मदन बाबू की बात मान कर एक-एक पन्ना सारे गरीबों व दलितों में बँटवा क्यों नहीं देती!

अब... अब क्या किया जाय...! डॉक्टर बाबू और यात्री के बीच बातचीत रबर की तरह खिंची जा रही थी। बातचीत के बीच में रुपये माँग बैठना ठीक रहेगा? न! कतई नहीं। मन ही मन ठान लिया कि जैसे ही बातचीत खत्म होगी, शर्म-संकोच छोड़ कर सामने हाथ फैला देगा।

इधर डॉक्टर बाबू का प्रवचन ज्योतिष को पार करके वेद, पुराण, उपनिषद, धर्म और आस्था को अपनी जद में ले चुका था, ''हमने अपने गौरवशाली अतीत को, अपने धर्मग्रन्थों को और वैदिक परम्पराओं को भुला दिया। तभी देश उन्नति नहीं कर पा रहा। नयी सरकार ने इनका महत्त्व समझा है। आपकी सूचना के लिए बता दूँ कि चुनिन्दा विश्वविद्यालयों में जल्द ही ज्योतिषशास्त्र, भूतविज्ञान और वेदपुराणों की पढ़ाई शुरू होने जा रही है।'' डॉक्टर साहब के सम्भ्रान्त पहरावे, तिलक-अँगूठियों की चमक और बुलन्द आवाज का रौब चील की तरह फड़फड़ा रहा था डिब्बे के उस हिस्से में। एक झपाका हुआ और सामने बैठे यात्री को लगा मानो मध्ययुग का कोई बिगड़ैल तानाशाह निरीह जनता के बीच फासीवादी जुमलों की गूगलियाँ उछाल रहा है। जनता मन ही मन तिलमिलाती हुई है पर विरोध में तन कर खड़े होने का साहस नहीं सँजो पा रही।

पन्द्रह मिनट निकल गये। आधे से ज्यादा दूरी तय हो चुकी थी। गन्तव्य बस आने वाला ही था पर दोनों की बातचीत का ओर-छोर नहीं दिख रहा

था। एक अजीब-सी बैचेनी से दिमाग साँय-साँय करने लगा बकुल का। पर इस बार वसूली-अभियान के लिए मानसिक रूप से पूरी तरह कमर कस चुका था वह। चाहे जो हो, आज पैसे माँग कर रहेगा। इन्तजार था तो सिर्फ मदन बाबू और यात्री के बीच की बात के खत्म होने का।

इस बे-मौसम के इन्तजार ने थोड़ी देर के लिए उसे अन्तर्मुखी कर दिया। अन्तर्मुखी होकर भीतर उतरते ही आँगन में मृग शावकों के साथ सोना प्रगट हो गयी। बकुल सारे तनाव भूल गया। तबीयत हरी हो गयी। इस हरेपन को और गाढ़ा करने के लिए उसे 'टॉनिक' की तलब हुई। पैंट की पॉकेट से लिलिपुटी डिबिया निकाला। छोटी-सी डिबिया के एक ओर खैनी और दूसरी ओर चूना! चुटकी-भर खैनी और चूना हथेली पर रख कर दायें अँगूठे से पूरे लय में मसलने लगा। बन्द होंठों के भीतर 'आमी तोमाके भालोबाशी...'' की पंक्ति गौरैया-सी फुदक रही थी। मसलने के फलस्वरूप टॉनिक की देह से कसैली गन्ध फूटी तो यात्रियों के साथ-साथ मदन बाबू भी इस गन्ध से आलोड़ित हुए बिना नहीं रह सके। टॉनिक उनकी बड़ी कमजोरी थी और दुर्भाग्य से डिबिया घर पर छूट गयी थी। बहुत देर से मन को जज्ब किये हुए थे। गन्ध रन्ध्रों में घुसी तो संयम दरकने लगा। चोर नजरों से बकुल की ओर देखा। बकुल की आँखें ढलकी हुई थीं और अँगूठा हथेली के बीच कलात्मकता के साथ थिरक रहा था।

ट्रैन नैहाटी के आउटर में प्रवेश करने लगी। गन्तव्य सामने आ पहुँचा था। पटरियाँ बदलने से खटर-खट की जोर आवाज हुई तो बकुल की आँखें 'खुल जा सिम सिम...' की मानिन्द खुल गयीं। यात्री जा चुका था और मदन बाबू चोर नजरों से उसकी ओर देख रहे थे। फिर एक अजूबा घटा। रामानन्द सागर की 'रामायण' सीरियल में दिखाये राम रावण युद्ध को याद करें! दोनों ओर से तीर चलते हैं– सूँऽऽऽ! बीच में आकर टंन्न से टकरा जाते हैं!

नजरें मिलते ही बकुल के भीतर देर से लथ पड़े साहस की कढ़ी में उबाल आया, ''डॉक्टर बाबू, थोड़ा पैसा बाकी था माछ का...!'' उसी पल के सौंवे हिस्से में मदन बाबू भी आवाज में अभिजात्य का छौंक लगा कर हिनहिना दिये, ''ऐ बकुल भाई, थोड़ा-सा टॉनिक देगा...?''

मानो दो तीर विपरीत दिशा से आकर टकराये हों... टन्न!

हमेशा अबे-तबे करके पुकारने वाले मदन बाबू के मुँह पर 'बकुल भाई...'! निमिष-मात्र में बकुल के मन में जमा बैचेनी का कुहासा छँट गया। कढ़ी का उबाल भी शिथिल हो कर नीचे बैठ गया। बारह सौ की छोटी-सी रकम के लिए डॉक्टर मदन मुखर्जी जैसे बड़े आदमी को इतने यात्रियों के सामने जलील करने की बात सोच भी कैसे सका वह!... छी:! अच्छा हुआ उसकी बात नहीं सुन सके वे। स्वयं को धिक्कारते हुए चहक कर बोला, ''हाँ हाँ सर... लीजिए न...!'' फिर हथेली की सारी खैनी को उनकी हथेली के 'श्री चरणों' में अर्पित कर दिया। टॉनिक ग्रहण करते हुए एक क्षण को मुखर्जी बाबू सकपकाये कि दलित की छुई हुई चीज कैसे लें! तभी भटनागर जी की बात याद आ गयी कि सूखी वस्तु उनके स्पर्श से खराब नहीं होती। लेकिन चूना तो गीला था! तो मसलने से सूख नहीं गया क्या! खैनी ली और पलक झपकते यात्रियों की भीड़ में सुराख बना कर गुम हो गये।

मुखर्जी बाबू के अन्तर्धान होते ही बकुल जैसे नींद से चौंका हो... अरे, कहाँ गायब हो गये डॉक्टर साहब? बकाया की बात याद नहीं आयी उन्हें? सोचा था, खैनी लेने के बाद बकाया स्वयं ही पहल करके दे देंगे। ज्जा साला... इससे तो बेहतर होता कि तगादा कर ही डालता।

लेकिन कल महाजन को पेमेंट देना है। नहीं दिया तो मछली नहीं मिलेगी। फिर क्या बेचेगा... कद्दू? कैसे जुटेंगे पैसे! बकुल का चेहरा लटक गया। गाड़ी प्लेटफॉर्म पर लग गयी थी। भारी कदमों से गेट की ओर बढ़ने लगा। गिद्ध दृष्टि उचक-उचक कर भीड़ में मुखर्जी बाबू को तलाश रही थी। मुखर्जी बाबू तो नहीं दिखे पर... पर आँखों आगे एक झपाका हुआ और लगा जैसे मृग शावकों के साथ सोनमाछ बाहर खड़ी मुस्करा रही हो– ओ गो... पैमेंटेर चिन्ता केनो कोरछो... (ऐ जी, पेमेंट की चिन्ता क्यों कर रहे) न होगा तो मेरी पायल बेच देना। बकुल बाऊरी के होंठों पर मुस्कान खिल आयी। बच्चे-जैसी भोली मुस्कान! बेफिक्री से सिर को झटक दिया। कल का कल देखा जाएगा। राग भैरवी में 'आमी तोमाके भालोबाशी...' गुनगुनाता गेट की ओर लपक गया।

उस वक्त उसके जेहन में सिर्फ और सिर्फ सोनमाछ व मृगशावक थे और डॉक्टर बाबू व उन पर चढ़ी उधारी की बात दूर-दूर तक कहीं भी नहीं थी।

प्रिंस केड़िया मार्किट,
आसनसोल-713301 (प.बं.)
मो. 09832194614

मुलाकात

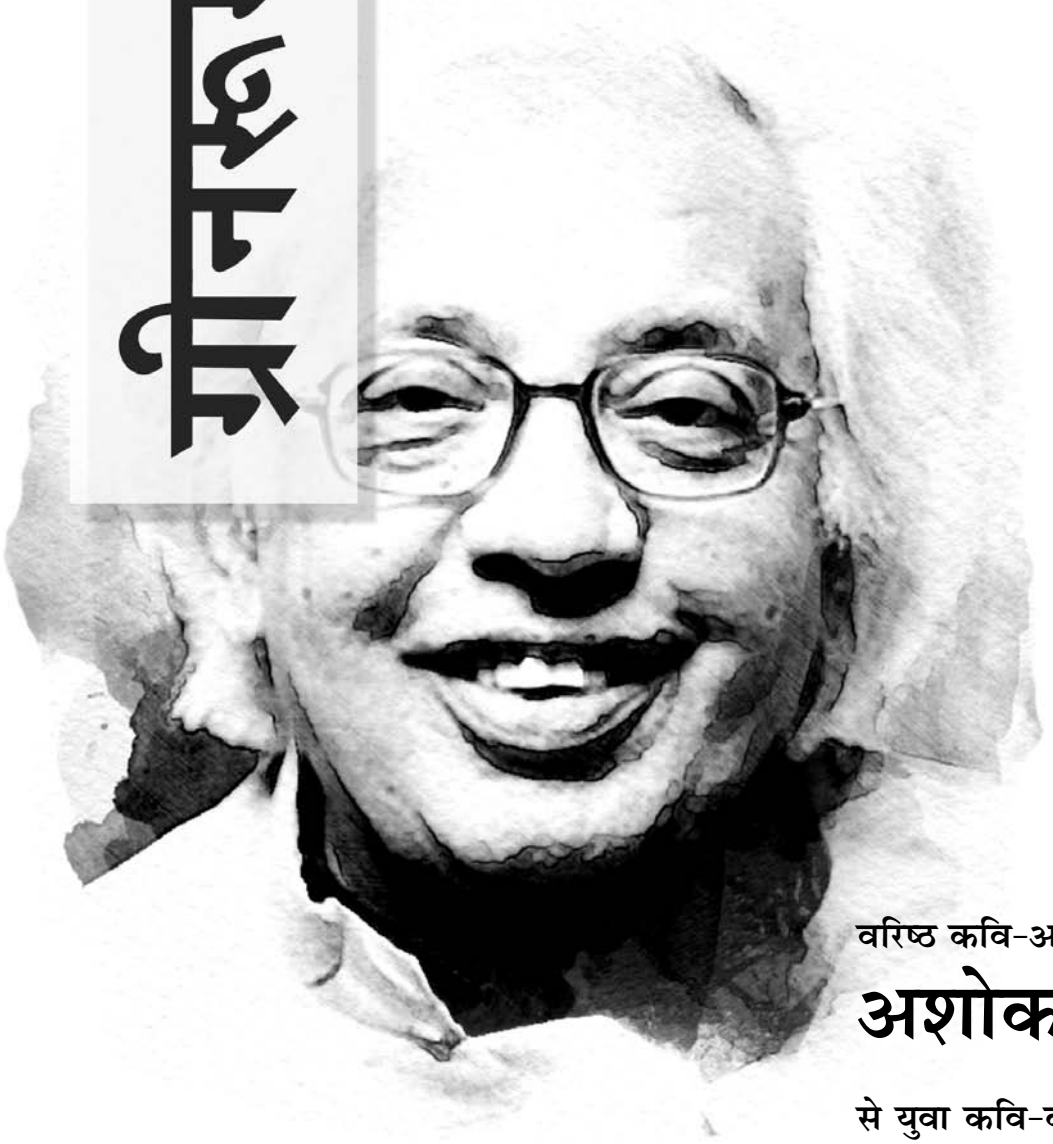

वरिष्ठ कवि-आलोचक

अशोक वाजपेयी

से युवा कवि-कथाकार

पूनम अरोड़ा

की बातचीत

मैं छोटे-से दिये से थोड़ा-सा उजाला करने की कोशिश का कवि हूँ, मशाल लेकर चलने का दुस्साहस मैंने कभी नहीं किया...

*युवा कवि-कथाकार-सम्पादक **पूनम अरोड़ा** नयी दिल्ली में रहती हैं। एक उपन्यास 'नीला आईना' प्रकाशित। 'वनमाली कथा' के 'नवलेखन विशेषांक' (नवम्बर-दिसम्बर 2022) में प्रकाशित कहानी 'तुम पर धिक्कार है अनारकली!' विशेष चर्चित।*

लेखक और उसकी कृति के मध्य किसे चुना जा सकता है? एक पाठक को लेखक का जीवन जानने का प्रयास किस हद तक करना चाहिए और क्यों?

चुनाव इतना सीधा-सादा नहीं होता। कृति चुनने का अर्थ कहीं न कहीं उसके लेखक को भी चुनना होता है। लेखक कृति में अन्तर्भूत है। ऐसा हो सकता है कि कृति लेखक का दूसरा या अन्य जीवन हो, उसके भौतिक जीवन के अलग, कई बार उससे पलायन, उससे मुक्ति। कोई भी कृति जीवन को, लेखक के अपेक्षाकृत सीमित जीवन को भी पूरी तरह से कभी समा नहीं सकती– जीवन का कुछ न कुछ फिर भी कृति से बचा रह जाता है। कई बार इस बचे हुए को पाठक न जान पाता है, न समझ ही। पाठक का अभीष्ट कृति में चरितार्थ जीवन को जानना, उसे उसकी सूक्ष्मताओं और जटिलताओं में आत्मसात् करना होना चाहिए। रसिक-पाठक को कई बार अपने प्रिय लेखक के, कृति से बाहर के, जीवन को जानने की उत्सुकता हो सकती है। पर उतना ही जानना प्रासंगिक हो सकता है जो उसे कृति में अन्तर्भूत जीवन को अधिक गहराई से समझने-सराहने में सहायक हो। अकसर यह जानकारी ऐसा नहीं करती और रसिक कृति में भटक जाता है।

किसी कविता की भाषा उसके रचनाकार के परिवेश, समाज, स्थितियाँ और लोकव्यवहार को प्रदर्शित करती हुई उन सबसे एक अन्तस्सम्बन्ध बनाती चलती है। क्या ये अन्तस्सम्बन्ध अपने अस्तित्व में निर्णायक होते हैं या हो सकते हैं?

किसी कवि की भाषा कैसे बनती है, यह एक जटिल प्रक्रिया है। परिवेश, समाज, स्थितियाँ, लोकव्यवहार सबकी भूमिका होती है पर व्यक्तित्व, दूसरी कविभाषाओं की भी। फिर यह भाषा स्थिर नहीं रहती– लगातार बनती चलती है। मेरे पहले संग्रह से अन्तिम याने सत्रहवें संग्रह तक भाषा ने कई रंग बदले-उतारे हैं– व्यंजना से अभिधा तक। अन्तस्सम्बन्ध प्रभाव तो डालते ही हैं, भले नियामक शायद नहीं हो पाते, न ही उनकी, सामान्य परिस्थिति में, ऐसी कोई आकांक्षा होती है। कई बार साहित्यिक परिवेश निर्णायक बनने की कोशिश करता है या कवि उससे प्रतिकृत होना जरूरी मानने लगता है। इस सन्दर्भ में अत्यन्त विनय से मैं यही कहूँगा कि मुझे अपनी काव्यभाषा में कुछ पिछड़ा, कुछ नवक्लैसिकल लगने में कोई संकोच नहीं हुआ है।

कविता की दीवारें अक्सर व्यक्तिगत और बाहरी अनुभूतियों द्वारा निर्मित होती हैं। उन पर मानवीय सजगता का पलस्तर चढ़ाया जाता है। क्या आप किसी ऐसी बात से कभी गुजरे हैं जिसने आपके लेखन में आन्तरिक तौर पर आपको कभी कोई पछतावा या पीड़ा दी हो?

कविता के लिए हर कुछ सम्भावना है, हर कुछ बाधा भी। कविकल्पना और कौशल, जिनका इन दिनों भूलकर भी जिक्र नहीं होता, बाधा तो लाँघने की कोशिश करते, सम्भावना के परिसर में जाने की कोशिश करते हैं। कई बार सफल नहीं होते। अपर्याप्तता का बोध तो कई बार होता है, इन दिनों ज्यादा ही। पर पछतावा तो नहीं। अगर वह होता भी है तो जो नहीं कर पाया उसको लेकर, जो किया उसको लेकर नहीं।

> **अपर्याप्तता का बोध होता है, पछतावा नहीं। कभी होता भी है तो जो नहीं कर पाया, उसको लेकर, जो किया उसको लेकर नहीं।**

कविता में कुछ व्यक्तिगत अनुभूतियाँ होती हैं जिन्हें कवि सार्वजनिक तो करता है लेकिन सतर्क होकर। क्या आप ऐसी सतर्कता बरतते हुए कभी लड़खड़ाये हैं?

अव्वल तो कविता में, निजी या व्यक्तिगत और सामाजिक का द्वैत अकसर मिट जाता है। भाषा में कुछ भी लिखना

सार्वजनिक करने के बराबर होता है। हरेक के जीवन में ऐसा बहुत-सा होता है और कवि के जीवन में भी, जिसे सार्वजनिक करना जरूरी नहीं होता। यह एक तरह की नागरिक सतर्कता है जो हर कवि में होती है। कई बार वह चूक भी जा सकता है। मैं भी चूका होऊँगा पर मुझे कोई उदाहरण इस समय याद नहीं आ रहा है। यों सारी कविता सीधे-सावधान चलना नहीं होती– उसमें लड़खड़ाना, भटकना, कहीं न पहुँचना सब होता रहता है। वैसे ही जैसे कविता सिर्फ मुखरता-भर नहीं मौन, हकलाहट, चीख आदि सब जब-तब होती रहती है। कविता हर समय विवक्षा होती है।

आपने अपनी कविताओं में बिम्बों के स्थापत्य के लिए गूढ़ भाषा की परम्परा को उस अतिथि के समान स्वतन्त्र रखा है जो विनम्रता से अपनी सहजता में रहना चाहता है। क्या यह नयी कविता आन्दोलन का प्रभाव था?

मैंने किसी भी अर्थ में किसी गूढ़ का प्रयोग किसी काम के लिए कविता में किया है, ऐसा मुझे नहीं लगता। नयी कविता के परम्परा के प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाया था, यह सही है। पर उसने परम्परा का पुनराविष्कार भी किया था– अज्ञेय, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, नरेश मेहता, श्रीकान्त वर्मा आदि की कविता में और उनकी भाषा में यह पुनराविष्कार देखा जा सकता है। मैं इस वृत्ति से अप्रभावित नहीं रहा हूँ। सिवाय इसके कि मैंने बारहा, ज्यादातर तत्सम के सहारे, अन्तर्ध्वनियों को अपनी भाषा में गूँथने और उद्‌बुद्ध करने की कोशिश की है। कविता में भाषा निरी भाषा नहीं है, वह भाषा की स्मृति भी है। अगर आज की भाषा का कोई शब्द किसी प्राचीन शब्द को पुकारता है तो एक नये किस्म की मार्मिकता पैदा होती है, रोमांच भी।

“प्रेम-कविता प्रेम पर लयात्मक रिपोर्ट नहीं, वह कविता की काया में भाषा के साथ केलि से उपजती है और अपने आदर्श क्षणों में स्वयं प्रेम बन जाती है।”

आपकी प्रेम कविताओं से गुजरते हुए यह अहसास हुआ कि जीवन में कितनी ही अस्पष्ट कल्पनाएँ होती हैं जो कला/साहित्य के आत्मनिरीक्षण के साथ अपना स्वाभाविक आकार पा लेती हैं। प्रेम जितनी सहज अनुभूति है आपकी प्रेम कविताओं में, उतनी ही कोमल काया है उनकी। आप इन्हें दृश्यों में न्यायपूर्ण सूक्ष्मता और अनुभूति में आत्मनियन्त्रण की विराटता, इन दोनों स्तरों पर एक साथ किस तरह निर्मित कर पाने की राह खोज लेते हैं?

प्रेम-कविताएँ मेरे संसार से अनुराग का ही अधिक सघन और ऐन्द्रिय संस्करण हैं। उनमें यथार्थ और कल्पना, स्वप्न और सचाई, अनुभव और स्मृति– सभी का आवयविक संगुम्फन है। हमारे समय में कोमलता की लगातार क्षति होती रही है। मैंने कविता में कोमलता का पुनर्वास करने की कुछ चेष्टा की है। सूक्ष्मता और विराट्‌ता अगर कवि-कौशल से सधते हैं तो उससे कहीं अधिक स्वयं प्रेम में उनका सहज आर्विभाव होता है। प्रेम-कविता प्रेम पर लयात्मक रिपोर्ट नहीं होती, वह कविता की काया में भाषा के साथ केलि से उपजती है और अपने आदर्श क्षणों में स्वयं प्रेम बन जाती है।

रश्मि जी से आपकी पहली मुलाकात कब हुई थी?

पहली बार रश्मि को देखा था नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर जब हम बहुत सारे लेखक जिनमें नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, मोहन राकेश, श्रीकान्त वर्मा, सुरेश अवस्थी आदि एक प्लेटफॉर्म पर, अचेत मुक्तिबोध का, एक गाड़ी से आने का इन्तजार कर रहे थे। नेमिजी, श्रीमती रेखा जैन और रश्मि उस समूह में शामिल थे। बाद में पता चला कि वे कथक नर्तकी हैं और बिरजू महाराज की सबसे पहली शिष्याओं में से एक। एम्स में जहाँ मुक्तिबोध भर्ती थे, नेमिजी का परिवार अकसर सेवा-सुश्रुषा के लिए आता था और कभी-कभार उसमें रश्मि भी होती थीं। उसी दौरान उनकी कथक प्रस्तुति देखने का भी सुयोग हुआ।

कहते हैं कवि बहुत मूडी भी होते हैं। लिखने के उद्‌देश्य से आपका सबसे उत्तम सम्भावित 'मूड' क्या होता है?

होते होंगे कुछ कवि मूडी, मैं तो नहीं हूँ। किसी विशेष मूड होने पर ही कविता लिखने की मेरी आदत नहीं रही है। जब मन होता है लिख लेता हूँ। अकेला अलबत्ता होना सहायक होता है पर अगर वह न सम्भव हो तो भी लिख सकता हूँ। लिखता रहा हूँ। ऐसी जगहों में भी, जहाँ किसी को अन्दाजा नहीं हो सकता कि मैं कवि हूँ या कविता लिख रहा हूँ। घर में भी मेरी कोई अलग जगह नहीं है, स्टडी आदि। जब सब जीवन-व्यापार

चल रहा होता है तब भी लिख लेता हूँ। रात देर गये बहुत कम लिखा है, मैं निशाचर नहीं हूँ।

कविता के सन्दर्भ में अपने 'म्यूज' के विषय में भी हमें बताइये जोकि एक समय-काल विशेष में आपके आस-पास रचनात्मक प्रेरणास्त्रोत के रूप में उपस्थित रहता है। परिणाम रूप में आपकी कोई कृति अस्तित्व में आती है। वह 'म्यूज' एक ऑब्जर्वर की तरह मौन में उन आवाजों को सुनता और गुनता है जो आपके कवि-हृदय में शब्दों के प्रति कभी आभार तो कभी संयम बरतने की युक्ति से आपका परिचय कराता है।

मुझे ऐसे किसी म्यूज का कोई खास अहसास नहीं है। हर समय तो कविता नहीं करता। जब नहीं कर रहा होता हूँ तो रोजमर्रा की जिन्दगी में, सामान्य दिनचर्या में हो सकता है कि अन्दर कुछ सजग-चौकन्ना रहता है और कविता लिखने के क्षण में प्रगट-सा हो जाता है। कविता, कम से कम मेरी कविता, लिखी तो विशेष क्षणों में जाती है पर वे सामान्य क्षणों के प्रवाह में ही होते हैं, उनसे बाहर या प्रवाह के किसी स्थगन में नहीं। कविता भी सामान्य जीवन जीने की प्रक्रिया में शामिल रहती है, उससे विविक्त नहीं।

कहते हैं कवि की आत्मकथा उसकी कविताओं में ही होती है। कविताओं में ही उसका समाज, पूर्वज, अधूरे स्वप्नों की टीस और दुर्लभ सुखद संयोग बिम्बों, रूपकों और ब्यौरों के रूप में उपस्थित होते हैं। आपकी कविताओं में इन ब्यौरों के बावजूद पाठकों में आपके निजी जीवन को जानने की एक ललक है। साहित्य और अन्य कलाओं के क्षेत्र में एक लम्बे और अर्थपूर्ण योगदान के साथ क्या आप अपनी आत्मकथा लिखने के लिए स्वयं को तैयार कर पाये हैं?

पिछले दिनों मैंने अपने संस्मरणों की एक पुस्तक 'अगले वक्तों के हैं ये लोग' शीर्षक से सेतु प्रकाशन से प्रकाशित की है। आत्मवृत्तान्त की एक और पुस्तक बरसों पहले राजकमल से 'पाव-भर जीरे में ब्रह्मभोज' नाम से आयी थी। आत्मकथा बाकायदा लिखने का दबाव बहुत है पर उसके लिए जितने पुनरावलोकन और याद कर पाने की जरूरत है, उतनी शक्ति शायद मेरे पास नहीं है। स्मृति धोखा भी देती है और कहीं भ्रमित होकर मैं कुछ झूठ न उसमें शामिल कर दूँ, यह नैतिक आशंका भी है। मैं किसी के साथ, अपने शत्रुओं के साथ भी अन्याय नहीं करना चाहता। तो संक्षेप में यह कि असमंजस में हूँ जिससे मुक्त हो पाना अभी मुमकिन नहीं लग रहा।

तकनीक ने हम सभी को सुविधाएँ दी हैं। लिखने के लिए कम्प्यूटर/लैपटॉप/मोबाइल फोन्स और पत्र-व्यवहार इत्यादि के लिए मेल का इस्तेमाल किया जाता है। मुझे लगता है इन साधनों

ने लेखकों का जीवन सरल करने के साथ पर्यावरण को भी थोड़ा सुरक्षित किया है। लेकिन मैं आपके टाइपराइटर की कहानी जानना चाहती हूँ। अपने एक इंटरव्यू में आपने कहा था कि आप लिखने के लिए टाइपराइटर का उपयोग इसलिए करते हैं क्योंकि यह नुक्तों की सुविधा देता है। लेकिन मुझे लगता है कि आपको टाइपराइटर एक 'सुविधा क्षेत्र' के साथ-साथ अपने विचार व्यक्त करने के लिए 'भावनात्मक कमरा' भी देता है। हो सकता है मैं अपनी बात में ठीक उस स्थान पर नहीं पहुँच पा रही, इसलिए आपसे ही आपके 'टाइपराइटर' की कहानी सुनना चाहती हूँ। मसलन यह कितना पुराना है, किसी ने यह उपहार-रूप में दिया या आपने खरीदा था और सबसे महत्त्वपूर्ण बात कि इससे उत्पन्न होने वाला स्वर या ध्वनि आपको कैसी लगती है? ध्वनि और स्वर के विषय में जानने के लिए मैं इसलिए उत्सुक हूँ क्योंकि कुछ खास तरह की आवाजों को सुन कर हमारे भीतर कुछ अद्वितीय या सघन घटना घट जाने के आसार सम्भव होते हैं।

तकनीक के मामले में मैं खासा पिछड़ा लेखक हूँ– टाइपराइटर से आगे नहीं जा सका। मैंने टाइप करना सागर में ही अपने गैरव्यावसायिक उद्यम से सीख लिया था। अपने लिखने को टाइप्ड देख पाना अच्छा लगता था। शायद वह लिखे गये को थोड़ी दूरी से देखने का अवसर भी देता था। इस समय जो टाइपराइटर मेरे पास है, वह रेमिंगटन का पुराना छोटा टाइपराइटर है जो मुझे इन्दौर में एक मित्र ने अपने बैंक के कबाड़ से उठाकर मुफ्त ही दे दिया था। मुझे टाइप करने की ध्वनि अच्छी लगती है– उसका खटर-पटर भी एक तरह का संगीत है। कम्प्यूटर में सबकुछ बहुत हलके से करना होता है और बेआवाज ही होता है। उसे सेव करने की सावधानी भी बरतनी होती है। मुझे यह सब नहीं सुहाता। मुझे खट-पट आवाज आश्वस्त करती है। सही है कि वह एक तरह भावनात्मक कमरा भी बन जाता है। कई बार लगता है कि टाइपराइटर की वजह से मैं इतना विपुल लिख पाया। कोई उसे अत्याचार भी कह सकता है भाषा और पाठकों के ऊपर, तो उसमें इस टाइपराइटर की साझेदारी है।

सत्ता, समाज, झूठ, सामूहिकता आदि हमें लगातार अनैतिक बनाते रहते हैं। कविता इस अनैतिकता का प्रतिरोध कर ही नैतिक कर्म हो सकती है।

आपकी कविताओं से गुजरते हुए यह तो दिखाई देता है कि इनमें वह प्रत्येक स्वर है जो अपने व्यक्तिगत इतिहास और जातीय स्मृति के ताप से रिसता हुआ सामने आता है, लेकिन उसमें विरोध की मशाल जलती हुई नहीं दिखाई देती। क्या आपके पाठकों को इसके लिए दार्शनिक कारण तलाशने होंगे?

अगर संगीत के रूपक का सहारा लें तो याद करें कि हर राग में कुछ स्वर वर्जित होते हैं। हर स्वर का विवादी स्वर हो सकता है पर जरूरी नहीं कि वह मूलस्वर को सघन-सार्थक करे ही। इसलिए हर कहीं जहाँ आप ही के शब्दों में वह प्रत्येक स्वर है जो अपने व्यक्तिगत इतिहास और जातीय स्मृति के ताप से रिसता हुआ सामने आता है तो उसमें विरोध की मशाल क्यों हो, यह मेरे सामने स्पष्ट नहीं है। दार्शनिक कारण तलाशने की जरूरत नहीं है– वैसी विरोध की रोशनी हर सजग पाठक के पास या तो होती है या उससे ऐसी अपेक्षा की जाती है कि हो। पाठक अगर कविता के अर्थ का अपनी प्रतिक्रिया याने अपनी संवेदना और दृष्टि से, अपने भाषाबोध से विस्तार नहीं करता तो वह कविता ध्यान और समझ से पढ़नेवाला पाठक नहीं माना जा सकता। भले आजकल ऐसे पाठक की कल्पना या अपेक्षा नहीं की जाती, मुझे वह आवश्यक लगती है। कोई भी पाठ, किसी कविता का, अन्तिम पाठ नहीं होता, कवि का पाठ तो निश्चय ही नहीं। वह प्रास्ताविक पाठ-भर होता है– उसमें बढ़त तो पाठक करते हैं। यों मैं तो छोटे-से दिये से थोड़ा-सा उजाला करने की कोशश का कवि हूँ, मशाल लेकर चलने का दुस्साहस कभी नहीं किया: जो लेकर चले थे उनमें से अधिकांश के हाथों में मशाल कब की बुझ चुकी है– कुछ धुआँ-भर बाकी है। और वो भी खामोश है।

आपकी एक कविता है 'मैंने कुछ नहीं किया' शीर्षक से। इस कविता की पंक्तियों ने मुझे देर तक रोके रखा। मैं उस रुके हुए समय में यह समझने का प्रयास करती रही कि लेखन भी कैसा दुरूह अभ्यास है जो जीवन के नीचे जीवन की एक और परत को उठाने के लिए लगातार एक अटल और सक्रिय मुद्रा में रहता है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियों को पढ़कर एक ऐसा चेहरा नजर में घूमने लगता है जो सत्ता से, समाज से, झूठ और सामूहिकता से पीड़ित है। इस तरह के दृश्य रचते हुए क्या आप विचलित होते हैं?

कवि और आलोचक दोनों ही रूपों में मैं इस पर इसरार करता रहा हूँ कि कविता तो हमारे समय-समाज-आत्म की हिस्सेदार गवाही होना चाहिए। हम, जो कुछ घट रहा है उसकी जिम्मेदारी दूसरों पर नहीं डाल सकते– हम भी जिम्मेदार हैं। 'मैंने कुछ नहीं किया' एक ठोस स्थिति में कविता-नायक के कुछ न करने के अमानवीय दुष्परिणाम को स्पष्ट करती है। हम न सिर्फ कुछ करके जिम्मेदार होते हैं, कुछ न करके भी। जबकि हमें कुछ करना चाहिए था, न करके भी जिम्मेदार होते हैं। सत्ता-समाज-झूठ-सामूहिकता आदि हमें लगातार अनैतिक बनाते रहते हैं। कविता इस अनैतिकता का प्रतिरोध कर ही नैतिक कर्म हो सकती है।

भारतीय प्रगतिशील बौद्धिक वर्ग के वर्चस्व को आप किस तरह परिभाषित करेंगे?

इस समय तो सत्तारूढ़ राजनीति, अपने बुद्धि-विरोध के कारण, सार्वजनिक जीवन और बुद्धि की संस्थाओं, जैसे विश्वविद्यालय आदि में बुद्धि और बुद्धिजीवियों के अवमूल्यन करने में व्यस्त है। यों भी, भारतीय समाज में बौद्धिक वर्ग का वर्चस्व शायद ही कभी रहा है। एक समय था जब हम कृषिप्रधान और साथ ही बुद्धिप्रधान देश थे पर आज स्थिति बहुत बदल गयी है। अगर हिन्दी का ही उदाहरण लें तो पचास करोड़ की उसकी जनसंख्या में ऐसे पाँच-सात बौद्धिक हैं जो मुखर और सक्रिय हैं और जिनकी बात का कुछ व्यापक प्रभाव पड़ता है। हिन्दी अंचल की व्यापक और बढ़ती धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता और जातिवादिता बुद्धि की अवमानना, उसके अवमूल्यन से उपजी सचाइयाँ हैं।

साहित्य में मठ-परम्परा का होना किसी लेखक की रचनाशीलता पर क्या प्रभाव डालता है?

साहित्य में किसी मठ-परम्परा के होने का मुझे पता नहीं। यह कुछ बरस पहले उछाला गया जुमला-भर था। अलबत्ता, वैचारिक और विचारधारात्मक किस्म के कई शिविर हैं। ऐसी शिविरबद्धता किसी भी लेखक के लिए हमेशा हानिकार या अवांछनीय नहीं होती। पर उसे ऐसी शिविरबद्धता के रहते अपनी आवाज, अपनी सचाई, अपनी दृष्टि को बनाने-बचाने के जरूरी निजी संघर्ष से विरत नहीं होना चाहिए। कवि की वफादारी प्रथमतः और अन्ततः कविता-भाषा-कल्पना-सचाई के प्रति होती है और अगर कोई शिविर इनके आड़े आये तो लेखक को उससे जल्दी मुक्ति पाकर अपनी स्वतन्त्रता पर इसरार करना चाहिए।

सोशल मीडिया ने आज लेखकों और विचारकों को एक सरल

लेकिन त्वरित मंच दिया है। यह मंच जल्दबाजी के लेखक बना रहे हैं या अच्छे लेखकों और उनकी रचनाओं को उनके पाठकों तक सरलता से पहुँचाने का कार्य कर रहे हैं?

सरल और त्वरित मंच लोकतान्त्रिक रूप से सबको उपलब्ध हो तो यह विकास बुरा नहीं है। जल्दबाजी में बने लेखक पहले भी रहे हैं और अब उनकी संख्या तेजी से कई गुना बढ़ रही है। उनको सराहना और बढ़ावा भी मिल रहे हैं। साथ ही यही मंच महत्त्वपूर्ण लेखकों और कृतियों के लिए भी मिल रहा है– अपने आप में यह विधेयात्मक है। यही मंच कई लेखकों को अपने राग-द्वेष व्यक्त करने, दूसरों पर कीचड़ उछालने के लिए भी आसानी से मिल रहा है। जब ज्यादातर अखबार और टीवी चैनलें सरकारी मीडिया बनकर रह गये हैं तब सोशल मीडिया ही लोकतान्त्रिक प्रश्नवाचकता और असहमति के मंच के रूप में उभरा है। झूठ के अपार वर्चस्व के समय में वह सच की आवाज उठाने का मंच भी है। उसका दुरुपयोग हो रहा है घृणा और झूठ को तेजी से फैलाने के लिए। लेकिन जब धर्म, ईश्वर, संविधान, लोकतन्त्र, न्यायालय आदि दुरुपयोग से नहीं बच सके तो सोशल मीडिया का दुरुपयोग लगभग अनिवार्य लगता है। यह सच की अल्पसंख्यकता का भयावह समय है: सच को आज पक्षधर नहीं अपने को व्यक्त करने के लिए मंच

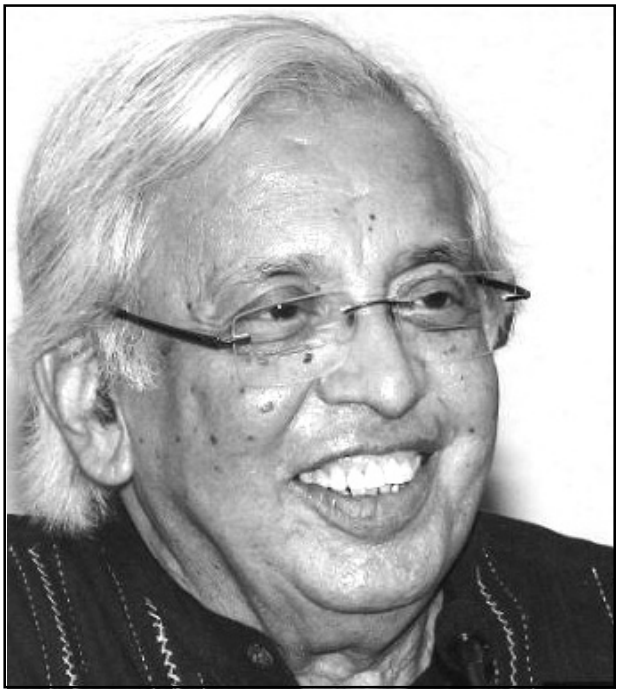

चाहिए और, सौभाग्य से, सोशल मीडिया ऐसा मंच है हालाँकि सत्ताओं की उस पर कोप दृष्टि भी है।

आज हिन्दी कविता की दुनिया में एक तरह का असन्तोष और बेचैनी है। लेखक और पाठक के बीच की निष्ठा फीकी पड़ गयी है। रचनात्मकता पर चिन्तन नहीं बल्कि बहस होने लगी है और विमर्शों ने शाब्दिक हिंसा का रूप धारण कर लिया है। जो साहित्य अपने भाषा के लोगों के लिए मनोयोग से रचा जाता है, उसी भाषा के लोग आलोचना के पक्षों पर बात नहीं करते बल्कि 'ट्रोल' करने लगे हैं। क्या यह कविता के दुर्भाग्य का समय है? इस असन्तोष और बेचैनी की आपको क्या वजहें लगती हैं?

इस समय जो कीचड़-उछाल और लांछन-आरोप आदि की वृत्तियाँ हावी हैं, वे आलोचना के संस्करण नहीं, बल्कि उसकी अवांछनीय विकृतियाँ हैं। उन्हें बरतनेवाले और उनका मजा लेनेवाले इससे एक नीच किस्म का सुख पाते हैं। सच्ची-खरी और निर्भीक लेकिन जिम्मेदार आलोचना हमेशा से कम ही रही है और आज वह औसत से कम हो गयी है, ऐसा मुझे नहीं लगता। उचक्के ट्रोल भले कर रहे हों, कई युवा आलोचक गम्भीरता से आलोचना लिख रहे हैं। हिन्दी का परिदृश्य ओछेपन, नीचता और लांछन से नहीं, जिम्मेदारी, विचारशीलता और गभीरता से बनता है।

एक कवि होने के नाते समय के साथ आपकी मान्यताएँ और वैचारिक सत्य और अधिक परिष्कृत और सजग हुए होंगे। असहिष्णुता के विरोध में पुरस्कार वापसी के अपने निर्णय पर आज आपके क्या विचार हैं? यह जानना इसलिए भी आवश्यक है कि बाहरी तौर पर पुरस्कार लेखक का सम्मान प्रतीत होते हैं लेकिन इसके पीछे की राजनीति (पुरस्कार आदि के लिए पैरवी करवाना भी लेखकों का सत्य है) उतनी ही भ्रष्ट है। ऐसे में उस समय आपके द्वारा लिये गये पुरस्कार वापसी के निर्णय में क्या आज आपकी सजगता कोई हस्तक्षेप करती है?

समय के साथ, कुछ और पढ़कर, कुछ और लोगों से संवाद कर मेरे-जैसे संवादप्रिय लेखक की मान्यताएँ और विचारदृष्टि में कई परिवर्तन आये हैं। पहले सरकारी सेवा में होने के कारण जो कुछ बन्दिशें थीं, वे भी हट गयीं। पर बिलकुल सब उलट गया हो, ऐसा नहीं हुआ। कविता में इधर थोड़ी अभिधा की वापसी, कुछ सीधे कहने के दबाव में जरूरी लगी। अब तो पाँच बरस होने जा रहे हैं और असहिष्णुता के विरोध में पुरस्कार वापसी एक सही कदम रही। स्वत:स्फूर्त होने के कारण उसने एक देशव्यापी बिरादरी बना दी और पहली बार लेखकों की बात देश-भर में सुनी गयी। सत्ताधारियों को आज भी वह जब-तब परेशान करती है। उसकी नाटकीयता ने ध्यानाकर्षण किया जो उचित और जरूरी था। पुरस्कारों को लेकर अच्छी-बुरी राजनीति सक्रिय रहती आयी है, यह सही है। इसलिए उनकी प्रतिष्ठा और मान्यता में भी कमी हुई है। उन्हें बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसे बड़े लेखक हुए हैं जिन्हें कोई बड़ा पुरस्कार नहीं मिला जैसे मुक्तिबोध, कृष्णबलदेव वैद। इस अभाव ने उनकी उपलब्धि की मान्यता या उनके अवदान के स्वीकार में, मेरे जाने, कोई विशेष बाधा डाली हो, ऐसा कहना सही नहीं होगा। यह मानना कि हर पुरस्कार के पीछे राजनीति होती है, सही नहीं है: देवीशंकर अवस्थी और भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार उसके उदाहरण हैं। वे पैरवी करनेवालों को कभी नहीं मिले या दिये गये। उनके चयन से असहमति होती रहती है पर यह तो उनके अपने आलोचनात्मक स्वास्थ्य के लिए हितकर ही है।

अब तक की साहित्यिक यात्रा में क्या किसी से कोई पुरानी नाराजगी या शिकायत रही जो वक्त के साथ धुँधली हो गयी हो या उनके मायने अब पूरी तरह बदल गये हों?

मनुष्य हूँ तो नाराजगी, मनमुटाव, शिकवे-शिकायतें होती रही हैं। पर उनमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे आज याद कर सकूँ। मेरा स्वभाव ऐसा है, और इसमें मैं अपने पिता पर गया हूँ, कि ऐसा कुछ याद नहीं रहता। पहले कभी ऐसे किसी अवसर पर अपना आपा खो बैठने का पश्चात्ताप होता है।

बहुतों का साथ छूटा, बहुतों ने साथ छोड़ा: इसका गम नहीं– यह मनुष्य का लीला-संसार है, इससे मुक्ति कहाँ!

आत्मसंघर्ष या आत्मशुद्धि– आपने अपनी कविता से क्या अधिक पाया है? अपने उत्तर में आप मेरे प्रश्न की सीमा को अपने अनुसार विस्तार दे सकते हैं।

आज की कविता में आत्मसंघर्ष अनिवार्य है यह मुझे बीए का छात्र रहते समझ में आ गया था और तभी मैंने अपनी संस्था 'रचना' के लिए ..... से 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' विषय पर व्याख्यान देने का आग्रह किया था और मैंने ही उसे 'कृति' के सम्पादक श्रीकान्त वर्मा को भेजा था। कविता में कई संघर्ष एक साथ होते हैं और आत्मसंघर्ष उनमें से एक है, पर शायद ज्यादा कठिन संघर्ष अभिव्यक्ति याने भाषा का संघर्ष होता है। अच्छी कविता तब होती है जब ये दोनों संघर्ष रचना-प्रक्रिया में तदाकार हो जायें। यह एक खासी मूर्ख पर लोकप्रिय धारणा है कि अगर कोई अपेक्षाकृत बेहतर आर्थिक-सामाजिक स्थिति में है तो उस कवि में आत्मसंघर्ष नहीं या कम होगा। दूसरी तरफ यह भी सही है कि अपने आत्मसंघर्ष को नारा बनाना या उसे बहुत गाना कविता-विरोधी काम है। आत्मसंघर्ष तभी सार्थक या प्रासंगिक होता है जब उससे कविता में कुछ आन्तरिकता, सघनता, निजता पायी गयी हो और जिनसे कविता की सार्थकता में कोई बढ़त हो। आत्मशुद्धि मैंने कभी नहीं चाही: मैं तो अपनी असह्य अपवित्रता से कविता में अब भी सम्भावित पवित्रता की खोज करता रहा हूँ ताकि वह अपवित्रता झर सके।

अलबत्ता जब-तब कविता में आत्मविस्तार और आत्मविलोपन अनुभव होता है पर किसी तरह की शुद्धि न कभी खोजी, न कभी पायी। शुद्धता का आग्रह, अपनी शुद्धि की तलाश दूसरों के लिए कितनी घातक-हिंसक हो सकती है, यह हम आजकल सार्वजनिक जीवन में देख ही रहे हैं।

बहुत से लेखकों के लेखन के निजी क्षणों पर पढ़ते हुए एक चीज जो पाठकों को आकर्षित करती है, वह है उन लेखकों की लेखन से जुड़ी अनूठी रिचुअॅल्स। चाहे वह माहौल से जुड़ी हो, चाहे किसी खास पेन से, स्टडी टेबल पर रखे सामान से या किसी तरह के आहार से। सैकड़ों लेखकों की सैकड़ों तरह की निजी रिचुअॅल्स होती हैं। आपके पाठकों की भी आपकी इस तरह की किसी अनूठी रिचुअॅल को जानने के प्रति कौतूहल-भरी जिज्ञासा है। क्या आप अपनी ऐसी किसी विशिष्ट और निजी लेखकीय रिचुअॅल को साझा करना पसन्द करेंगे?

मैंने कविता को लेकर, कवियों को लेकर आलोचना, सम्पादन, आयोजन आदि में बहुत रूमान रचा है। उनके बारे में कई सम्भवत: नयी स्थापनाएँ गढ़ने की चेष्टा की है और कुछ सार्वजनिक अनुष्ठान भी किये हैं। पर अपने लिखने को लेकर ऐसा कोई रूमान या अनुष्ठान कभी रचना-करना जरूरी नहीं लगा। सो आपका कुतूहल शान्त करने के लिए मेरे पास बताने को कुछ नहीं है। आप कह सकती हैं कि मैं अनुष्ठानहीन कवि हूँ।

भाषा ने कविता के साहचर्य से पृथ्वी पर शब्दों का सौन्दर्य रचा है। सभ्यता का अंश-अंश शब्दों में अभिव्यक्ति की एक व्यापक कथा है। लेकिन प्रत्येक अवस्था का अन्तिम चरण सार्वभौमिक सत्य है। सूर्य भी अपने अन्तिम दिन की परिधि में अन्तिम पूर्ण को प्राप्त करेगा। 'पृथ्वी की अन्तिम कविता' कैसी होगी? जब भाषा अपने अन्तिम दिन में प्रवेश करेगी तो उसके शब्दों का विलुप्त हो जाना कैसा होगा?

मैं नहीं जानता कि 'प्रत्येक अवस्था का अन्तिम चरण सार्वभौम सत्य है।' अगर ऐसा हो भी तो भाषा, कविता, सभ्यता आदि उस चरमता से काफी दूर हैं, कई सदियों रहनेवाले हैं। उस दौरान कविता अन्तरिम सचों को एक सिलसिला खोजती-पाती-गँवाती-भूलती-याद करती और विन्यस्त करती रहती है, रहेगी। मेरी नजर में कविता रोजमर्रा से लेकर वैचारिक स्तर पर सचाइयों से ही उलझी रहती है और किसी सत्य में अपने को होम करने या उससे लील लिये जाने से बचती रहती है। ऐसा अगर हुआ कि भाषा अन्तत: नि:शब्द हो जाये तो शायद कविता और मनुष्यता का भी लोप हो जायेगा। ऐसा लोप मुझे अवश्यम्भावी नहीं लगता और न ही यह कविता या भाषा की आकांक्षा में हो सकता है।

ऐसा अगर हुआ कि भाषा अन्तत: नि:शब्द हो जाये तो शायद कविता और मनुष्यता का भी लोप हो जायेगा।

मो. 9810228340

उस नौजवान को लगा कि कछुआ उसे चिढ़ा रहा है। उसने अपनी लात चला कर उसे परे फेंकने की कोशिश की, पर लात हवा में ही झूल गयी। उसने इधर-उधर देखा। झाड़ियों में उसने कछुए को खोजने की कोशिश की, पर वह जैसे धरती में ही कहीं समा गया था।

विनोद शाही

योगनिद्रा

''**ले,** आज से दुनिया तेरी मुट्ठी में...'' कहते हुए उन्होंने ब्राउन शुगर की पुड़िया मनिन्दर की हथेली पर धर दी।

मनिन्दर को लगता था कि गतके के खेल की कला में उसे महारत थी। अब वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के हाव-भाव देख कर ही उसकी अगली चाल का अनुमान लगा लेता था और उसके वार करने से पहले ही उसे 'टारगेट' बना लेता था। लेकिन इस मामले में वह अभी अनुभवहीन था कि युद्ध मैदान पर ही नहीं, ऐसी जगह भी लड़ा जा सकता था कि किसी को वह युद्ध नहीं, एक खेल लगे। गतके-जैसी पारम्परिक युद्ध-कलाओं के लगातार पिछड़ते जाने की यह भी एक वजह थी। यह एक सदियों पुराना 'मार्शल आर्ट' था, जो किसी न किसी कारण से अब तक लुप्त होने से बचा रह गया था। बेशक इसके लिए चीते-जैसी फुर्ती चाहिए, पर इसके बचे रहने की वजह दूसरी थी। वह यह थी कि इस खेल को और इसके खिलाड़ियों को कछुए की तरह 'योगनिद्रा' में जाना भी आता था। यह अलग बात है कि आजकल योगनिद्रा के लिए भी एक नया शब्द निकल आया है– हाइबरनेशन।

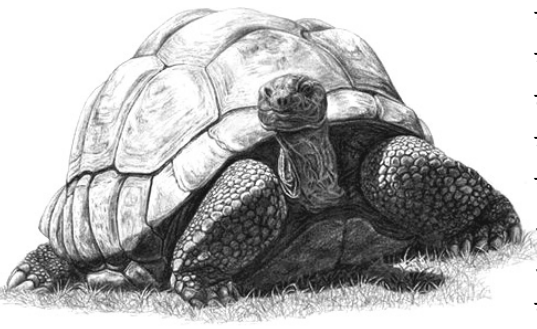

मनिन्दर को इस बात का अहसास तब हुआ, जब उसने निहंगों की 'छावनी' में 'परसादे' को ग्रहण करना आरम्भ किया। युद्धकला के अभ्यास के आरम्भ से पहले उन सभी को भाँग-धतूरे को घोंट कर बनाया दूध का गिलास दिया जाता। नशा धीरे-धीरे चढ़ता, तब वे अपने जिस्म को भूल जाते। हवा में ऐसी कई कलाबाजियाँ खाते जैसे उनके पैरों-तले जमीन ही न हो। पर घंटे-भर के अभ्यास के बाद जब वे थक कर लौटते तो सीधे चारपाई पर ढेर हो जाते। फिर कोई कब उठेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं होता।

लेकिन असल में 'हाइबरनेट' करना किसे कहते हैं, इसका पता उसे तब चला जब उसने उस दिन छावनी के आसपास घूमते दो अनजान युवकों का दिया वह 'सुपर परसाद' छक कर देखा।

उस दिन वह सचमुच एक कछुआ हो गया था।

पर उसकी वह नींद टूटते भी देर न लगी। बाद में जब उसे उस 'सुपर डोज' की कीमत पता चली तो उसने पाया कि उसे चुकाने के लिए उसके पास कुछ नहीं था।

इस उलझन से निकलने के लिए पहले उसने सोचा कि अपनी तलवार से उन दोनों को चीर डाले। फिर डर गया। कहीं उनके पास कोई तमंचा न हो। तब उसे एक और ख्याल आया। मैं उन्हें मारना ही क्यों चाहता हूँ! उल्टे मुझे उनका शुक्रगुजार होना चाहिए। उनकी वजह से मैं देख सका कि सबमें उसी वाहे गुरु का नूर है। 'एक नूर से सभ जग उपजया, कौन भले को मन्दे...' पर कोई हैलिसुनेशन में जाये बगैर इसका मतलब कैसे समझ सकता है?

फिर उसे बाबा खप्परवाले की कही बात याद आयी, ''गतका खेलने वालों को पता होता है कि इससे हम अपना बचाव करते हैं, सीधा हमला नहीं करते। नहीं तो 'भगौती' (भगवती) नाराज हो जाती है।''

उन लड़कों ने उसे बस एक दिन का वक्त दिया और कहा, ''इन्तजाम न हो सका, तो रात बारह बजे अन्धे कुएँ की जगत पर अपना सोने का लॉकेट रख जाना।''

इस बीच उसे शेर सिंह का फोन आया, ''इन बदमाशों से जैसे भी हो पिंड छुड़ा और मेरे पास चला आ। इंग्लैंड, कैनेडा और अफगानिस्तान तक मेरे लिंक्स हैं। फिर जैसी जिन्दगी चाहता है जी लेना, पर इस बारे में अपनी दीदी से कुछ मत कहना। तुझे पता ही है उसके स्वभाव का।''

वह उलझ गया था, पर शेर सिंह की पहुँच का उसे अनुमान था। भारत सरकार की अनुदान योजना के तहत उसकी दीदी की टीम की 'लोकरंग' और 'खेलो इंडिया' में परफार्मेंसेज होनी थीं। उनका वही स्पॉन्सर था। सरकारी तन्त्र में उसकी अच्छी दखल थी। इसी का फायदा उठाने की नीयत से उसने मनिन्दर को अपना टारगेट बनाया था। लेकिन वह यह भी चाहता था कि उसका नाम इसमें कहीं न आये। मनिन्दर गतका जानता था। कॉलेज में बतौर एनसीसी कैडिट थोड़ी-बहुत आर्म्स ट्रेनिंग भी उसने ले रखी थी। ऊपर से धार्मिक प्रवृत्ति का होने की वजह से भक्तिभाव की भी उसमें कोई कमी न थी। इस तरह के नौजवान उसके छिपे हुए कारोबार में उसकी मदद ठीक से कर सकते थे। उसने जाल बिछा दिया था और मनिन्दर के आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

आखिरकार मनिन्दर ने वह मुश्किल फैसला ले ही लिया– भगौती के कोप से बचने का।

उसने अपने सोने के लॉकेट को अन्धे कुएँ की जगत पर रख दिया और उनके वहाँ आने से पहले ही रात के अँधेरे में गुम हो गया।

अन्धे कुएँ में छिपे झींगुर बोले– झच्झरीझाल।

दूर जाते मनिन्दर और नजदीक आते उन दोनों नौजवानों को सुनाई दिया– सस्सरीकाल।

उन दोनों में से एक ने आगे बढ़ कर लॉकेट को निकाल कर अँधेरे में ही उलट-पलट कर देखा-भाला और सन्तुष्ट होकर अपनी जेब के हवाले कर दिया।

दूसरे नौजवान ने मनिन्दर को वहाँ न पाकर एक मोटी-सी गाली दी, ''डर गया साला।''

जैसे उसकी नकल-सी लगाते हुए, पास से छप-छप करते निकलते एक कछुए ने कहा– खड़खयाखाला।

उस नौजवान को लगा कि कछुआ उसे चिढ़ा रहा है। उसने अपनी लात चला कर उसे परे फेंकने की कोशिश की, पर लात हवा में ही झूल गयी। उसने इधर-उधर देखा। सब तरफ 'कांग्रेस ग्रास' उगी हुई थी। वह ऐसे सुनसान इलाकों में ही अपना साम्राज्य स्थापित करती थी। उसकी झाड़ियों में उसने कछुए को खोजने की कोशिश की, पर वह जैसे धरती में ही कहीं समा गया था। अपने आप पर खीझता हुआ वह फिर गालियाँ बकने लगा।

दोनों नौजवान अपने ठिकाने की तरफ मुड़ गये।

उस रात के बाद से उन दोनों ने

मनिन्दर का यही नाम रख दिया– कच्छू कुम्मा। अपनी वारदातों को छिपाये रखने के लिए वे अक्सर कोड वर्ड्ज में बात करते थे– खासतौर पर लोगों के नाम छिपाने के लिए। इस दफा उन्होंने मनिन्दर का जो नाम रखा था, यह 'कच्छप कूर्म' का अपभ्रंश था, जो किसी युग में एक अवतार तक हो गया था– कूर्मावतार।

उस रात के बाद से जब वह घर नहीं लौटा तो सबको फिक्र होने लगी कि वह कहाँ गया होगा? घर के सब लोग परेशान थे। ढलती उम्र के उसके दार जी दो-तीन दिन तक उसके कॉलेज के दोस्तों से पूछ-पड़ताल करते रहे। घूम फिर कर बात उसके निहंगों की छावनी में जाकर टिके रहने पर आ जाती। इसकी उन्हें फिक्र नहीं थी।

यह दरअसल उनकी वंश परम्परा से जुड़ी एक आवश्यक बीमारी थी। आसपास के इधर के गाँवों में उनका यह परिवार, सिख योद्धाओं के परिवार की तरह जाना जाता था। उनकी बेटी निरभौ तक छोटी उम्र से ही गतके की ट्रेनिंग ले रही थी। उसका अब काफी नाम हो गया था और साथ ही पंजाबी नाम का हिन्दीकरण भी। वह 'जपुजी साहिब' के मूल मन्त्र से लिये गये शब्द 'निरभौ' से 'निर्भया' हो गयी थी। उसकी देखादेखी उसका भाई मनिन्दर भी इस खेल में कुशल होने के लिए खूब पसीना बहा रहा था।

उनके पुरखे अँग्रेजों के खिलाफ खड़े हुए विश्वप्रसिद्ध 'कूका विद्रोह' में शामिल हुए थे। तब से गतका उनके खानदान की निशानी बना हुआ है। बाद में अँग्रेजों ने गतका खेलने पर बाकायदा पाबन्दी लगा दी थी। यह इस कला के 'हाइबरनेशन' में चले जाने के दौर की शुरुआत थी। खेल हाइबरनेशन में गया था, मरा नहीं था। वे लोग चोर-छिपे अपनी कला के हुनर को अब तक किसी न किसी तरह जिन्दा रखे हुए थे।

इस खेल में कोई बुराई नहीं थी, पर समाज में इसकी जो छवि बन गयी थी, उसके कारण यह कला भी सन्देह के घेरे में तो आ ही गयी थी। इसके जानकार इन दिनों निहंगों के अखाड़ों में ही बचे थे। वे लोग बड़े योद्धा थे। अपने घर-बार छोड़कर वहाँ रहते थे, मगर अब उनके सामने न कोई बड़ा लक्ष्य बचा था, न समाज में ही इस खेल के लिए वह पुराना सम्मान। यह सब अब बस निजी दक्षता और हुनर के प्रदर्शन से वाहवाही लूटने का एक शगल होकर रह गया था।

मनिन्दर जब तीन दिन तक भी घर नहीं लौटा तो दार जी ने पुलिस में शिकायत की, तो एएसआई उन्हें साथ लेकर सीधा अखाड़े के इंचार्ज करनैल सिंह खप्पर वाले के 'कोठे' में जा घुसा। कोठे में जाने से पहले उन दोनों ने अपने जूते बाहर उतार दिये। सिर पर पगड़ी के ऊपर नीले रंग के रुमाले रख लिये, जो कोठे के दरवाजे के बायीं ओर पड़े एक स्टूल पर रखे हुए थे।

बाबा खप्पर वाले सामने एक पीढ़ी पर सजे-सजाये पीठ सीधी किये बैठे थे। उनके एक हाथ में पाँच फुट का लोहे का एक नेजा था, जिसकी तीखी नोक कोठे की छत से झाँकते रोशनदान से उतरती धूप में नहा गयी थी। धूप का वह टुकड़ा ताजे रक्त की तरह लोहे के फलक पर चमक रहा था।

एएसआई ने भीतर घुसते ही जयकारा लगाया, ''जयकारा भगौती जी का!''

''जयकारा बाबा खप्परवाले का!''

बाबा जी ने दायाँ हाथ आशीर्वाद देने की मुद्रा में ऊपर उठाया। वे दोनों हाथ जोड़ कर नीचे बिछी दरी पर बैठ गये। बाबा जी मुस्कराये, ''उचरो हवालदारा!''

एएसआई ने जेब से मनिन्दर की तस्वीर निकाली और उसे उनके पास रख दिया।

बाबा जी ने उसे सरसरी नजर से देखा, बोले कुछ नहीं। एक-दो पल खामोशी रही।

तभी एक सेवादार एक ट्रे में लोहे के दो बड़े-बड़े गिलासों में दूध ले आया और उनके सामने रख कर चला गया। बाबा जी ने आदेश दिया, ''लो छको। भगौती जी का परसादा।''

एएसआई ने हाथ जोड़ दिये, ''ड्यूटी पर हूँ।''

बाबा जी हल्का-सा मुस्कराये, ''परसादा है। वहम न करो। हल्का-सा सुरूर आयेगा बस।''

कोई चारा नहीं था। वे प्रसाद गटक गये। बाबा जी का चेहरा खिल उठा। उन्होंने अपने सामने रखी तस्वीर उठा कर एएसआई को वापिस कर दी। फिर बोले, ''मनिन्दर आ नहीं रहा इधर, चार दिन हो गये। हमें शक है, वो कुछ गलत लोगों के हत्थे चढ़ गया है। हफ्ता पहले परसादा छक खेल ऐसा सोया कि अगले दिन नींद खुली। हमें लगा भाँग की मात्रा ज्यादा हो गयी होगी, पर अब शक पक्का हो गया है। कल हमारे एक सेवादार ने इधर आसपास घूमते एक अनजान लड़के के गले में मनिन्दर का लॉकेट बँधा देखा था।''

यह सुनते ही दार जी सुन्न हो गये। उन्होंने काँपते हाथों से अपने गले में

बँधा वैसा ही दूसरा लॉकेट उन्हें दिखाया, ''ये हमारे पास हमारे पुरखों की निशानी है। हमारे खानदान के शहीदों की तस्वीरें हैं इनके अन्दर। दस्तारबन्दी के साथ पहनाया जाता है। वाहे गुरु के सामने कसम खिलायी जाती है कि मरते दम तक इसे कभी अपने से जुदा नहीं होने देंगे। इन्होंने जरूर कुछ कर दिया है मेरे मनिन्दर को।''

दार जी का धैर्य जवाब दे रहा था। बाबा जी ने उठ कर उनके सिर पर हाथ रख दिया, ''मनिन्दर हमारा भी पुत्तर है। ये लॉकेट वाली बात पता होती तो उन्हें देखते ही धर न लेते? जा, भगौती जी की अरदास कर। वाहे गुरु मेहर करेंगे।''

पुलिस ने निहंगों की मदद से दो नौजवानों को पकड़ लिया था। उनके पास से ब्राउन शुगर बरामद हुई थी, जिसकी कीमत अनुमानत: आठ-दस लाख रुपये थी। मनिन्दर का सोने का लॉकेट भी मिल गया था, जिसे उन्होंने एक सुनार को पन्द्रह हजार में बेच दिया था।

पुलिस खूब वाहवाही बटोर रही थी। उन्हें पकड़वाने में निहंगों ने जो भूमिका निभायी थी, उसकी वजह से उनके अपने नशा-पानी के सन्दिग्ध कामों की तरफ से लोगों का ध्यान हट गया था।

वैसे कुछ लोग ये भी कह रहे थे कि निहंग दोहरी चाल चल रहे हैं। उन लड़कों का पकड़ा जाना सिर्फ एक नाटक है। ये इस कारोबार के पीछे छिपे असली मुजरिम को बचाने के लिए खेला जाने वाला एक नाटक है। कोशिश की जा रही है कि बाबा खप्पर वाले की छवि में सुधार हो। पिछले बरस सिन्धु बार्डर पर निहंगों ने जिस तरह एक आदमी की नृशंस हत्या की थी, उसके छींटे बाबा जी की ओर भी उड़े थे। वे उनकी छावनी से प्रशिक्षित निहंग थे, भले ही उन्होंने अपने लिए अब अलग ठिकाने खोज लिये थे। उन्होंने बाद में बाबा जी के कहने पर पुलिस के आगे आत्मसमर्पण किया था।

उस वारदात को भी लोग एक सोची-समझी योजना की तरह देखते थे। उनके मुताबिक उसका मकसद था, किसान आन्दोलन को बदनाम करना और उसे सिखों और निहंगों में विभाजित करके कमजोर कर देना। लेकिन सिख नेताओं ने निहंगों से अचानक दूरी बना ली थी और अपनी एकता को खंडित नहीं होने दिया था।

खैर, इस मामले की पेचीदगी जो हो, सच हो झूठ हो, लेकिन मनिन्दर को नहीं मिलना था, वह नहीं मिला।

निर्भया को बाद में पता चला तो वह उसके साथ हुई अपनी आखिरी मुलाकात को याद करने लगी। तब उसे पता नहीं था कि उससे मिलने के बाद वह फिर कभी घर नहीं लौटेगा।

जिस दिन वह लॉकेट वाली घटना घटी थी, उसके अगले ही दिन वह उसे मिलने के लिए जयपुर के उसके 'लोकरंग' वाले ट्रेनिंग कैम्प में ही पहुँच गया था। अगले दिन उनकी परफॉर्मेंस थी। रात आठ बजे तक खूब पसीना बहाने के बाद, नहा-धोकर अभी उन्होंने डिनर किया ही था कि वह आ गया।

शेर सिंह उसके साथ था। वे आपस में इतनी बेतकल्लुफी से बात कर रहे थे जैसे बरसों से एक-दूसरे को जानते हों। यह देख कर उसे अजीब लगा। पता नहीं क्यों, शेर सिंह की नजरें उसे भीतर तक चुभती हुई-सी लगतीं। उनकी टीम की लड़कियाँ इसीलिए उससे हमेशा थोड़ी दूरी बना कर चलतीं। वैसे भी उन्हें स्पॉन्सर से कुछ खास लेना-देना नहीं था।

उनकी टीम का इंचार्ज इन्द्र सिंह था। यों वह भी था तो बाबा खप्पर वाले की मंडली का ही, पर कुछ अर्से से उसने अपनी अलग गतका टीमें बना ली थीं। इसे वह एक प्रोफेशनल तरीके से आगे बढ़ा रहा था। उसे भी कैनेडा और इंग्लैंड के कुछ स्पॉन्सर मिल गये थे, जो गतके को उसकी पुरानी शानो-शौकत के साथ पूरी दुनिया में फिर से अपनी धाक जमाते हुए देखना चाहते थे।

इनमें से कुछ हुनरमन्द लड़कियों को, कुछ फिल्मों में अपनी परफॉर्मेंस देने का मौका मिल गया था। कुछ टीवी सीरियल भी उन्हें मिल गये थे। निर्भया ने कभी नहीं सोचा था कि एक सामान्य-से गाँव से निकली एक लड़की आज छोटी-मोटी 'गतका स्टार' होकर उभर आयी थी। उसका बैंक बैलेंस भी इतना तो हो ही गया था कि दो-चार साल बिना कुछ किये भी आराम से निकल जाते। उसके बाद गतका ट्रेनर के तौर पर उसका एक अपना अच्छा कैरियर भी अब कोई मुश्किल बात नहीं थी।

शेर सिंह जब मनिन्दर को साथ लेकर उसके करीब आया तो वह उसी कैम्प में आयी एक अन्य लड़की प्रियंवदा के साथ बाहर मैदान में टहल रही थी। प्रियंवदा पर्वतारोहण की लड़कियों की एक टीम के साथ वहाँ आयी थी। उन्होंने 'लोकरंग' मेले में पर्वतारोहण के परम्परागत उपकरणों की एक प्रदर्शनी लगायी हुई थी। उसमें

रावण और मिलारेपा के कैलाश आरोहण सम्बन्धी मिथकों से जुड़े कुछ दुर्लभ चित्र भी थे और आरोहण में सहायक साधना पद्धतियों के पोस्टर भी। यह एक दिलचस्प प्रदर्शनी थी, जिसने निर्भया को बहुत प्रभावित किया था। प्रियंवदा से मिलने के बाद उसकी अपनी इच्छा होने लगी थी कि वह उसकी टीम में शामिल हो जाये, लेकिन वह खुद को फँसा अनुभव कर रही थी। 'लोकरंग' की इस परफॉर्मेंस के बाद अगर उसे 'खेलो इंडिया' में नहीं जाना होता तो वह प्रियंवदा के साथ निकल पड़ती। वह अभी यही सब बातें कर रही थीं कि उन्होंने मनिन्दर को देखा।

बहन को नजदीक आकर वह वहाँ एक और लड़की को देख कर सकुचा गया। निर्भया उसे वहाँ यों अचानक आया देख कर हैरान थी। मनिन्दर ने दीदी के करीब आकर थोड़ा झुकते हुए 'पैरी पौना' किया, फिर वे वहाँ मैदान के एक किनारे पड़ी बेंच पर बैठ गये।

मनिन्दर को कुछ समझ ही नहीं आ रहा था कि क्या कहे। उसकी आँखें बीच-बीच में ऊपर आकाश की ओर उठ जाती थीं। निर्भया उसके और पास सरक गयी और उसका हाथ पकड़ कर पूछने लगी, ''कैसे आया वीरे?''

''ऐसे ही। तुमसे मिलने का मन हुआ, आ गया। कल तेरी परफॉर्मेंस देख कर आगे निकल जाऊँगा।''

''कहाँ?''

''पता नहीं। कुछ दिन ऐसे ही किन्हीं पहाड़ियों-घाटियों की तरफ... दो-चार दिन बाद खुद ही फोन करके बता दूँगा। अभी घर पर मत बताना। फिक्र करेंगे।''

''फिक्र तो वैसे भी करेंगे सब।''

''तब तक बता दूँगा।''

''क्या?''

मनिन्दर ने कोई जवाब नहीं दिया, फिर से ऊपर आकाश की तरफ देखने लगा। आकाश का एक कोना थोड़ा लाल-सा दिखाई दे रहा था, जैसे उधर से कोई धूल-भरी आँधी इधर आ रही हो। निर्भया ने उसे कुरेदना जारी रखा,

''ऊपर क्या है वीरे?''

''पता नहीं..., पर कल-परसों मैं छावनी में चौबीस घंटे सोता रहा। उठा तो मुझे लगा, मैं इस पूरे ब्रह्मांड का चक्कर लगा कर लौटा हूँ। फिर मैंने अपने आस-पास की दुनिया को देखा। मैं तो कभी अम्बरसर से आगे भी नहीं गया। इतना बड़ा ब्रह्मांड और मैं अपनी इस दुनिया को भी नहीं जानता। दुनिया तो छोड़ो, अपने मुल्क तक को नहीं देखा।''

''इसलिए घूमने निकल पड़ा?''

वह फिर कुछ पल के लिए मौन हो गया जैसे कि जो बताना चाह रहा हो, बता नहीं पा रहा हो। निर्भया ने उसके मन की टोह लेने के लिए पूछा, ''पैसे चाहिए? घूमने के लिए।''

''नहीं।'' ये कह कर उसने शेर सिंह की ओर देखा। फिर बोला, ''मुझे एक काम मिल गया है। साथ में घूमना भी हो जायेगा। कुछ गोरे इधर आये हुए हैं लोकरंग मेला देखने। यहाँ से कुल्लू का दशहरा देखने जायेंगे, फिर पहाड़ों में और ऊपर। मैं उनका दुभाषिया बनूँगा।''

निर्भया को लगा, वह कुछ छिपा रहा है। उसने शेर सिंह की ओर सन्देह से देखा। वहाँ कोई भाव नहीं था। उसने मनिन्दर से पूछा, ''किसने तुम्हें इस काम की ऑफर दी? शेर सिंह जी ने?''

उसने कुछ सोचा, फिर बोला, ''मैंने ही इनसे कहा था फोन पर कि मैं घूमना चाहता हूँ, तो इन्होंने बताया।''

''कब तक लौटेगा?''

''पता नहीं। मैं बताता रहूँगा। पर तुम मेरा उस दिन का सपना सुनोगी तो समझ जाओगी, मैं यहाँ क्यों आया हूँ।''

''क्या? अच्छा सुनाओ।''

''उस दिन जब मैं सोया तो पहले ग्रह-तारों के बीच से होकर निकला, फिर जमीन पर आ गया, तो लगा कि कच्छू कुम्मा हो गया हूँ। धरती के नीचे चला गया हूँ और सो गया हूँ। फिर सपने में ही जागा तो लगा, मैं एक पहाड़ के नीचे दबा हूँ। मैंने हिलने-डुलने की कोशिश की। जैसे ही मैंने ऊपर की तरफ जोर लगाया तो पहाड़ हिलने लगा। धरती पर भूचाल आ गया, फिर पहाड़ सरक गया। वहाँ की जमीन फट गयी और एक घाटी निकल आयी। एक सुन्दर फूलों से भरी घाटी। तभी मैंने तय कर लिया कि मुझे अब वहीं जाना है, उस फूलों की वादी को खोजने के लिए।''

''सपने, सपने होते हैं। उनका पीछा नहीं करना चाहिए।''

''तुम भी तो एक सपने के पीछे ही भाग रही हो, वह तुम्हें घुमा रहा है। अब वह कभी तुम्हें बाहर निकलने नहीं देगा।''

निर्भया को अचानक अहसास हुआ कि वह सच कह रहा था। अभी थोड़ी देर पहले वह प्रियंवदा से यही कह रही थी। वह उसके साथ ट्रैकिंग पर जाना चाहती है, पर उसे 'खेलो इंडिया' के सपने ने पकड़ रखा है। उसने इस नजरिये से सोचते हुए अपने भाई से कहा, ''हो सकता है, पर

इसके लिए कौन जिम्मेदार है? हम खुद? या वे लोग जिन्हें इससे फायदा होता है? जैसे हमारे स्पॉन्सर...। शेर सिंह जी! बुरा मत मानियेगा, बात में से बात निकल आयी है, तो कह रही हूँ।''

शेर सिंह घाघ आदमी था। उसने बस इतना कहा, ''नहीं, ये बात मेरे ऊपर फिट नहीं बैठती। मैं तो जन-सेवा करता हूँ। इसमें कुछ का फायदा है, कुछ का नुकसान।''

शेर सिंह को इस तरह डिफेंसिव अन्दाज में जाते देख, मनिन्दर पता नहीं कैसे थोड़ा खुलने लगा, ''दीदी सच है, ताकतवर लोगों ने हमें फँसाने के पक्के इन्तजाम कर रखे हैं। ये जो घर, स्कूल, कॉलेज, डेरे, छावनियाँ, मन्दिर और दफ्तर बनाये गये हैं, कैदखाने हैं। हम सबको उनमें बन्द कर दिया गया है। ये सब एक साजिश है। दुनिया नहीं चाहती कि हमें सच का पता चले।''

''कौन-से सच का?'', निर्भया ने पूछा।

''जिसका सपना मैंने देखा– हाइबरनेट करने का सच। जिसे कच्छू कुम्मा जानता है। लोग उस जैसे हो गये तो सरकारें फेल हो जायेंगी। लोग उनके आलतू-फालतू काम करने से इनकार कर देंगे।''

''कौन है जो इतनी हिम्मत करेगा?''

''लोग करते हैं। अमरीका में ऐसा हुआ। हिप्पियों की एक बस्ती ने हथियार रख दिये। कहा, हम सरकार के लिए वियतनाम जाकर नहीं लड़ेंगे। हम किसी आदमी को अपना दुश्मन नहीं मानते। हम नहीं मारेंगे उन्हें।''

''पता नहीं किसने तेरा ब्रेनवॉश कर दिया है। या तो तेरा दिमाग चल गया है या...'' कहती हुई निर्भया रुक

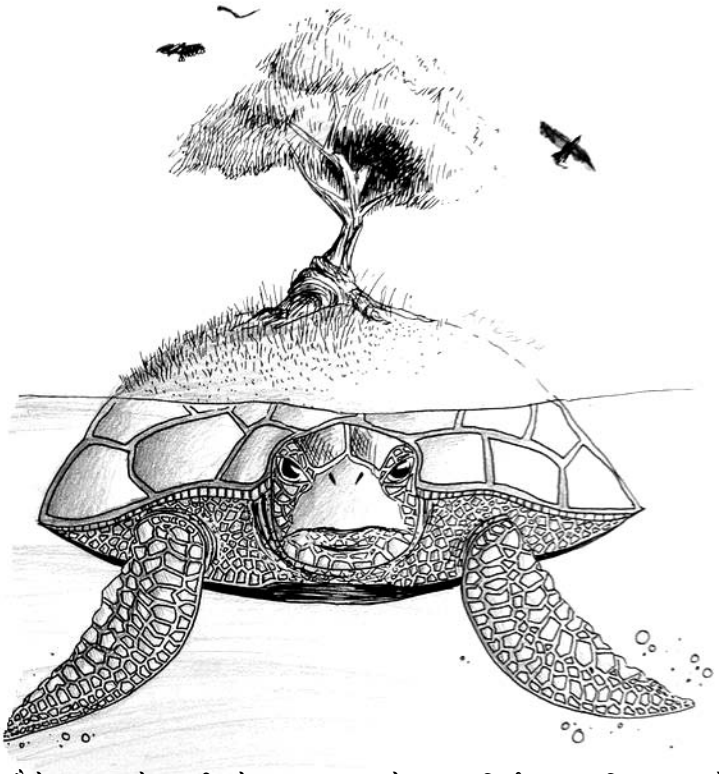

गयी, जैसे शब्द टटोल रही हो।

प्रियंवदा ने हँसते हुए उसकी बात पूरी की, ''या हो सकता है छठी इन्द्री जाग गयी हो तेरे भाई की।''

बात हँसने की नहीं थी, पर वक्त बचाने की नीयत से उन्होंने इस बात पर हँसते हुए वह संवाद वहीं खत्म कर दिया।

कुछ दिन बाद दार जी का फोन आया तो निर्भया को पता चला कि पीछे गाँव में मनिन्दर को लेकर क्या घमासान मचा था। उसने बताया कि मनिन्दर उससे मिलने आया था और शायद अपनी मर्जी से कहीं गया है, पर उसे उम्मीद नहीं थी कि वह उसे खोज लेगी। मनिन्दर का मोबाइल उस दिन से बन्द चल रहा था।

जयपुर के सप्ताह-भर के मेले की समाप्ति का कल आखिरी दिन है, यह सोच कर निर्भया उस दिन शाम से ही मनिन्दर की बाबत पूछताछ में लग गयी। पहले शेर सिंह के पास गयी। उसने बताया कि उसने उसी रात को होटल में ठहरे गोरों के दल से उसे मिलवा दिया था, तब से वह उससे भी नहीं मिला था। गोरे एक यूरोपियन डेलिगेशन की तरह यूनेस्को के लोक कला के अध्ययन के एक प्रोजेक्ट के तहत वहाँ आकर ठहरे थे।

उनसे पूछताछ की तो पता चला कि वे सचमुच एक अच्छे दुभाषिये की तलाश में थे और पिछले कुछ दिनों मे चार-पाँच लोगों के इंटरव्यू ले चुके थे। मनिन्दर उनके स्टैंडर्ड पर खरा नहीं उतरा था, पर अब सवाल ये था कि उसके बाद वह गया तो कहाँ गया! अगले दिन वह निर्भया की परफॉर्मेंस देखने भी नहीं आया था, तब निर्भया को शक तो हुआ था, पर

फिर लगा कि हो सकता है वह गोरों के साथ निकल गया होगा। अब क्या किया जाये, कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

आखिरकार निर्भया ने वह कठिन फैसला ले लिया। वह ऐसे ही 'खेलो इंडिया' की परफॉर्मेंस की लालच में फँसी हुई थी। उसे लगा, मनिन्दर उससे कह रहा है, ''सब अपने अपने सपनों के पीछे भाग रहे हैं, तो मेरा हाइबरनेट करना क्या बुरा है...?''

''बुरा है।'' उसने मन-ही-मन उससे कहा, ''बुरा है, क्योंकि उसने तुम्हें हम सबसे जुदा कर दिया है, पर मैं तुम्हें खोज निकालूँगी।''

अगले दिन निर्भया ने 'खेलो इंडिया' से अपना नाम वापस ले लिया। दार जी से फोन करके कहा कि वे शेर सिंह के खिलाफ पुलिस में शिकायत दर्ज करा दें। उससे कुछ उगलवाने का दूसरा रास्ता नहीं है।

फिर उसे मनिन्दर की यह बात याद आयी कि वह फूलों की वादियों की ओर जा रहा है। यह सोचते ही उसे प्रियंवदा के ऑफर ने पकड़ लिया। वह उसकी ट्रैकिंग टीम में शामिल हो जायेगी। हो सकता है मनिन्दर संयोग से कहीं किसी ऐसी जगह मिल जाए जहाँ उसके होने की उम्मीद सबसे कम हो। वैसे भी अपने खिलाफ पुलिस शिकायत हो जाने के बाद शेर सिंह क्या करेगा, कहना मुश्किल था। इसलिए भी उसे उसकी पहुँच से कहीं दूर चले जाना जरूरी लग रहा था, ताकि वह उसे नुकसान न पहुँचा सके।

अगले दिन वह प्रियंवदा के पास उसकी प्रदर्शनी वाले स्टॉल पर चली गयी और उससे पहाड़ों पर ट्रैकिंग करने के बारे में जरूरी नुक्ते जानने-समझने की कोशिश करने लग पड़ी।

गतके के जिस खेल को उसने अपना अब तक का पूरा जीवन दिया था, उससे इस तरह अचानक एक झटके से मुँह मोड़ लेना इतना आसान भी नहीं था। हालाँकि वह जानती थी कि 'खेलो इंडिया' से अलहदा हो जाने का मतलब गतके के खेल से मुँह मोड़ना नहीं था, लेकिन उसे एक नयी दुनिया का हिस्सा होते हुए अच्छा लग रहा था।

प्रियंवदा उसे, कैलाश को अपनी भुजाओं पर ऊपर उठाते रावण की तेरहवीं सदी की किसी मूर्ति का चित्र दिखा रही थी। कैलाश के ऊपर त्रिशूल लिये शिव खड़े थे, जिनके पैरों के भार से कैलाश फिर से नीचे जमीन पर जा लगा था। रावण की बाँहें पर्वत के नीचे दब गयी लगती थीं। इसे दिखाते हुए प्रियंवदा ने कहा, ''ये जो पर्वत है, हमारा जिस्म है। कोई अपनी ताकत से इन्हें उखाड़ना चाहे तो उसकी बाँहें उसके नीचे दब जायेंगी, फिर वह कुछ करने लायक नहीं रहेगा। पर्वत के शिखर पर वही बैठता है जो खुद पर्वत हो जाता है। जैसे शिव।''

निर्भया को अपनी गतके की दुनिया का अनुभव था। उसने कहा, ''लेकिन इधर लोग शिव-शम्भु और उनकी भगौती (भगवती) का नाम इसलिए लेते हैं कि भाँग-धतूरे का परसादा छक के आँख बन्द करके पड़े रहें। फिर वे रावण की तरह ताकत तो दिखा सकते हैं, पर भगौती की तरह शिव की बगल में पर्वत के शिखर पर चढ़ कर नहीं बैठ सकते। मैंने फैसला कर लिया है, अब मैं तुम्हारे साथ पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ने की कोशिश करूँगी।''

''यू आर वेलकम डियर!''

प्रियंवदा स्टॉल पर आ रहे कुछ दूसरे लोगों से बात करने लगी। बाकी लड़कियाँ भी उसके साथ थीं। सबने अपने अलग टेबल सँभाले हुए थे। सब टेबल पर्वतारोहण के अलग-अलग समयों के पारम्परिक उपकरणों से सजे थे। प्रियंवदा मिथकों की दुनिया की इंचार्ज थी। पहला टेबल उसी का था।

निर्भया वहाँ एक कुर्सी पर बैठ गयी। उसे आज समझ में आया था कि वह नशा-पत्ती-जैसी किसी चीज के निकट तक क्यों नहीं फटकती थी! कुछ चीजें हमारे स्वभाव का हिस्सा होती हैं। हम उनकी कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर सकते, पर वे अपना काम करती रहती हैं। हमारी जिन्दगी के असल मकसद उन्हीं में ठिठके पड़े होते हैं, पर हमें उनका पता बहुत बाद में चलता है।

वह मनिन्दर के हाइबरनेट करने के जुनून के बारे में सोचने लगी। एक तरफ वह था, दूसरी तरफ वह खुद। बीच में नशा-पत्ती वालों की दुनिया थी। वे उस दुनिया से खुश थे, पर मनिन्दर की निगाह में वे किसी साजिश का शिकार थे, ताकि ताकतवर लोग उनका फायदा उठा सकें। वह हाइबरनेट करके उनके चंगुल से छूटना चाहता था और वह खुद भी चाहती तो यही थी, पर तरीका कभी नशा न करने की उसकी जिद से जुड़ा था, इसीलिए वह गतका तो खेल सकी पर उस दुनिया का कभी पूरी तरह हिस्सा भी नहीं हो सकी।

एक तरफ उसकी यह जिद थी और दूसरी तरफ मनिन्दर को लगभग खो देने के हालात। इस वजह से अब तो दार जी ने भी उससे फोन पर कह

दिया था कि अबके बाद वे भगौती के परसादे से मुँह फेर लेंगे। उन्हें डर है कि इस चक्कर में वह कहीं अफगानिस्तान न चला गया हो। पर उन्हें पता है कि वहाँ अब तालिबान की हुकूमत है। वहाँ सिख महफूज नहीं हैं, इसलिए वे वहाँ से उजड़ कर भारत आने वाले शरणार्थियों पर नजर रखने की बात भी कहते हैं। हालाँकि निर्भया इसे उनके कुछ ज्यादा ही डर जाने की तरह देखती है। वैसे अपने डर को छिपाने के लिए साथ ही उन्होंने उसे ये भी कह दिया था, ''मेरा बेटा है। भूले-भटके अफगानिस्तान के बीच फँस भी गया तो भी कुछ करके ही लौटेगा।''

निर्भया अपने पिता की तरह अपनी गौरवशाली वंश-परम्परा को याद करके सचाई से मुँह नहीं मोड़ना चाहती। उसे नहीं लगता कि उसका भाई महान सिख योद्धाओं की स्मृतियों को जीवित करने वाला निकलेगा कि वह हरि सिंह नलवा की तरह काबुल-कन्धार तक अपनी बहादुरी के झंडे गाड़ देगा। उल्टे उसे ये लगने लगा है कि इस तरह के आधे-अधूरे इतिहास ने खेल की कला को ताकतवर होने के अहंकार से जोड़ दिया है, इसीलिए तरह-तरह के रावण इसमें घुस गये हैं और उन्हें हराना नामुमकिन-सा होता जा रहा है।

तो क्या इसीलिए वह गतके के खेल को 'नाम सिमरन' की बुलन्दी पर ले जाना चाहती है? उसने सुन रखा है– 'नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिन-रात।' यही तो लक्षण है किसी के सच में कच्छू कुम्मा होने का कि कोई ऐसी खुमारी में उतर जाये कि बरसों सुरूर न उतरे। ऐसा न हो तो कोई कैसे समाधि में डूब सकता है? शिव की तरह कैलाश के शिखर पर जा बैठने का दूसरा तरीका और क्या हो सकता है भला? जो ये सब नहीं कर पाते, वे या तो निहंग हो जाते हैं या 'हाइबरनेट' करके मनिन्दर की तरह 'अंडरग्राउंड' हो जाते हैं। पर वह सोना नहीं चाहती और... और जागना चाहती है।

उसे ख्याल आता है कि वह उस वक्त भीतर तक जागी होती है, जब वह अपने दोनों हाथों में लकड़ी की तलवारों को पकड़ कर सब तरफ घुमाती हुई फुर्ती से अचानक हवा में डेढ़ फुट ऊपर उछल जाती और फिर हवा में ही तीन सौ साठ डिग्री घूम कर जहाँ होती, वहीं फिर से सीधी खड़ी दिखाई देती। उस वक्त उसे लगता जैसे उसके आगे की तरफ ही नहीं, सिर के पीछे भी आँखें उग आई हैं। हो सकता है ऐसा करते-करते एक दिन उसे लगे कि वह आगे की तरफ भी दो से नहीं, तीन आँखों से देख रही है। तीसरी आँख कब खुलती होगी? उसने सोचा– शायद तब, जब धरती पर इतने सारे रावण हो जाते होंगे कि सिवाय प्रलय के, धरती को ताकतवर राक्षसों से बचाने का और कोई रास्ता न बचता होगा...।

तभी उसे याद आया गाँव के जोहड़ के किनारे-किनारे चलता एक कच्छू कुम्मा उसके नजदीक आते ही अपने मुँह-सिर-पैर को अपने खोल में छिपा कर वहीं रुक गया था। वह उसके नजदीक गयी तो देखा, उसके कवच पर बनी डिब्बीदार धारियों के बीच से दो आँखें उसकी तरफ देख रही थीं। वे असली आँखें नहीं थीं, उसके कवच पर बनी धारियों ने वहाँ आँखें होने का भ्रम पैदा कर दिया था। फिर भी जाने क्यों उसे लगा कि वे सचमुच की आँखें थीं!

दो आँखें बाहर, दो आँखें भीतर।
एक कुम्मा बाहर, एक भीतर।
और एक उसके भीतर।
उसे लगता है, वही है वह।

उसे लगता है... अपने आगे-पीछे की दोनों तरफ उग आयीं उन आँखों से पल-भर में ही वह अपने आगे-पीछे की पूरी दुनिया को देख लेती है।

तब उसकी देह और उसकी आत्मा में कोई दूरी नहीं बचती। धरती का गुरुत्व प्रभावहीन हो जाता है। वह जमीन पर चलती-फिरती बाकी की दुनिया से ऊपर उठ जाती है। दूर दिखाई देने वाला आकाश नीचे झुक कर उसके इतना करीब हो जाता है, जैसे उसे अपने साथ लिवा ले जाने की योजना बना कर आया हो।

ऐसे वक्त वह सोचती है, इस अहसास के अलावा और कोई वाहे गुरु नहीं है। लगता है जैसे वह भीतर तक लबालब भर गयी है और अब उसे कुछ और नहीं चाहिए।

गतके के खेल को उसने जैसे अपने जीने की कला में बदल लिया है। जिनके पास ऐसी कोई कला होती है, उन्हें फिर किसी धर्म की जरूरत नहीं पड़ती। यही वजह है कि निर्भया को गतके के खेल के शुरू होने से पहले के कर्मकांड में कुछ खास दिलचस्पी नहीं होती।

हालाँकि उसे योद्धाओं के लिए तैयार किया गया बाना पहनना पसन्द है– ऊपर नीले रंग का लम्बा कुर्ता जिसे कमर पर भगवा दुपट्टे से कस कर बाँध लिया जाता है, ताकि वह उछलने-कूदने के वक्त कोई रुकावट पैदा न करे; नीचे भगवाँ रंग की चूड़ीदार सलवार होती। सिर जालीदार

दुपट्टे से पूरा ढँका रहता। उसकी जाली के नीचे लोहे की बारीक जंजीर होती जो सिर के पीछे के हिस्से में एक हुक से कस कर बँधी रहती। सिर को चोट न पहुँचे, इसका पूरा इन्तजाम रहता। दोनों कलाइयों पर कुहनियों तक लोहे के पत्तरे से बने कड़े और उँगलियों पर स्टील की मुँदरियाँ रहतीं।

वह सब पहनते हुए ही उसे लगने लगता जैसे वह किसी युद्ध के मोर्चे पर कूच करने जा रही हो।

कवच-कुंडल धारी कर्ण की तरह।

या किसी कच्छू कुम्मे की तरह।

वह सोचती, कुदरत ने कुम्मों को इतने मजबूत कवच-कुंडल किसलिए दिये हैं! क्या धरती पर अवतरित होने वाले आदि देव वही हैं...?

पर वह इस रहस्य को पूरा सुलझा पाती, उससे पहले ही शस्त्र-पूजा आरम्भ हो जाती। प्रतीक-स्वरूप एक खंडे, एक तलवार, एक नेजे, एक भाले, स्टील के मुट्ठे वाली एक लाठी, लोहे के एक कवच और एक ढाल को पहले पानी से फिर दूध से धोया जाता, फिर सान पर घिस कर इन शस्त्रों की धार को तेज किया जाता। इससे बाद जयकारा होता, 'वाहे गुरु जी की फतेह' और फिर एक निहंग 'चंडी दी वार' का पाठ करने लगता।

शस्त्रपूजा के सारे कर्मकांड के दौरान वह दोनों हाथ बाँध कर और अपनी आँखें मूँद कर इस तरह खड़ी रहती जैसे उसके भीतर उस सबके प्रति अपार श्रद्धा का भाव हो, पर वह उस पाठ को बाकियों की तरह भाई जी बने निहंग के पीछे-पीछे बोलते रहने की बजाय 'चंडी दी वार' के एक-एक शब्द की गहराई में उतरने की कोशिश करती। उच्चरित हो रहे शब्दों को बस यों ही दोहराते रहना उसे पसन्द नहीं, इसलिए उसे ऊँचे सुर में 'चंडी दी वार' का पाठ करते कभी सुना नहीं गया।

पर उसे लगता कि पाठ करने वाले के सुर के आरोह-अवरोह, लय को बनाये रखने वाले मौन के अन्तराल और उत्साह का संचार करने वाले पंचम सुर के लम्बे प्रक्षेप, ये तमाम चीजें ऐसी हैं जो भाव का संचार तो खूब करती हैं, पर उस काव्य के निहितार्थ को दबा-छिपा देती हैं। सब लोग पाठ की लय के प्रवाह में इस तरह बहने लगते कि बोली जा रही पंक्तियों के अर्थ, नदी की तलहटी में पड़े पत्थरों, जलीय घास और वनस्पतियों, रेत के कणों और तट की अपने पेड़ों-सहित उसमें पड़ती परछाइयों की तरह पीछे छूटने लगते।

पाठ को जैसे अपने मुकाम पर पहुँचने की बहुत जल्दी होती और निर्भया को शब्दों के उन मुहानों में वापसी की पड़ी होती, जहाँ से कभी उनका जन्म हुआ था।

पाठ जितना आगे बढ़ता जाता, वह उतना ही पीछे लौटती जाती।

और उस दिन तो जाने क्या हुआ था कि वह अन्तर्यात्रा करती हुई खड़ी-खड़ी अचानक इस कदर हल्की हो गयी कि उसकी उस दिन की युद्धकला देख कर सब हैरान हो गये। अन्तर्यात्रा तभी से अचानक गहराई पकड़ने लगी थी, जब अभी पाठ शुरू ही हुआ था, ''वार श्री भगौती जी की। पातशाही दशवीं। प्रिथमै भगौती सिमरि के, गुरु नानक लई धियाए। खंडा प्रिथमै साज के, जिन सभ संसारु उपाया। ब्रह्मा बिस्नू महेश साजि, कुदरति दा खेलु बनाये रचाया।''

निर्भया को लगा कि 'चंडी दी वार' इशारा कर रही है कि सर्वप्रथम जो है वह भगवती है। वह सर्वप्रथम खंडे का निर्माण करती है, फिर इस संसार का जन्म होता है और उसे व्यवस्थित रूप में चलाने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उत्पन्न किया जाता है।

तो भगवती को जानने के लिए पीछे जाना होगा– संसार से परे। जहाँ कुदरत के मूल स्वरूप को खंड-खंड करके संसार की तरह प्रकट किया जाता है।

शस्त्र भी चीजों को या लोगों की देह को खंड-खंड करते हैं।

पर हमें किसी को खंडित करने का अधिकार तभी हो सकता है, जब हम खंडों से एक नये संसार की रचना कर सकें।

खंडन की शक्ति ही भगवती है, पर उसका खंडन-विखंडन मारता नहीं, जिलाता है।

यह बात समझ में आते ही वह रोमांचित हो उठी। उसे लगा जैसे वह अपनी देह में नहीं रही और किसी आद्या शक्ति के साथ एकाकार होकर युद्ध को जीवन की कला में बदल देने को आतुर हो गयी है।

तो जैसे ही पाठ की समाप्ति के बाद जयकारा हुआ, वह दोनों हाथों में तलवारें पकड़ कर मैदान में कूद गयी। आज उसका खेल देखते ही बनता था। लगता था जैसे हवा भी उसकी तलवारों से खंडित हुए बिना उसकी देह को छू तक नहीं सकती थी। वह मैदान के इस कोने से उस कोने तक किसी फिरकी की तरह घूमती हुई समय को ठहर जाने के लिए कहती प्रतीत हो रही थी।

यह आनन्दपुर साहेब के

होले-मोहल्ले के आयोजन के दौरान हुआ था। उसे देखने के लिए लोगों की अपार भीड़ जुट गयी थी। कई न्यूज चैनलों ने उसका वह वीडियो शूट करके बार-बार चलाने के लिए सुरक्षित कर लिया था। एक छोटे गाँव के कॉलेज में पढ़ने वाली वह सामान्य-सी छात्रा उस दिन अचानक गतके के खेल की एक नयी नायिका बन कर उभर आयी थी।

निर्भया 'एयर बीएनबी' के उस बेडरूम की खिड़की पर खड़ी पहाड़ की घाटी में नीचे झाँक रही है। धूप की वजह से धुन्ध वहाँ तक पहुँचने की बजाय हवा में ही रेत के कणों की तरह लटक गयी है।

चीड़ के पेड़ों से छन-छन कर आती धूप जहाँ थोड़ी अधिक चमकती है, धुनकी हुई रुई के रेशों-जैसी लगती है।

कल रात की अनियोजित और थका देने वाली लम्बी ट्रैकिंग की वजह से उसकी टाँगें पत्थर हो गयी हैं। कल से ही बीच-बीच में रुक-रुक कर होती बारिश के बीच दोपहर में अब कहीं जाकर थोड़ी धूप निकली है। मौसम विभाग ने अगले दो दिन तेज बारिश की चेतावनी जारी की है। ट्रैकिंग करने वालों को इन बातों का पूरा ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए अगले दो दिन अब यही घर उनका बेस कैम्प हो गया है।

वे कुल तेरह लोग हैं। शेरपा अपने दो सहायकों के साथ लॉबी में जम गया है। दो बड़े आकार के बेडरूम हैं, जिनमें आठ लड़कियाँ समा गयी हैं। निर्भया और प्रियंवदा उस छोटे बेडरूम में हैं।

अपनी टाँगों की तरफ ध्यान जाते ही उसकी साँसें गाँव की ओर जाते रास्ते की तरह ऊबड़-खाबड़ तरीके से चलने लगीं। उसे यकीन नहीं हो रहा है कि रात के दस-बारह किलोमीटर की ट्रैकिंग से ही उसका इतना बुरा हाल हो जायेगा। प्रियंवदा ने उसकी इस स्थिति को बस हँस कर टाल दिया है। बस इतना कहा, ''कोई बात नहीं, एक-दो दिन में टाँगों को चलने की आदत हो जायेगी।'' गतके के अभ्यास के दौरान वह खूब भागती थी। उसे अपने स्टेमिना पर भरोसा था, पर यहाँ तो वह उन तमाम लोगों के मुकाबले एकदम फिसड्डी लग रही थी।

वे लोग इस वक्त मनाली में थे। बाहर बारिश पड़ती तो पानी झट से निकल जाता। प्रियंवदा ने उसे बताया था कि जल-प्रलय के बाद मनु की नाव यहीं आकर किनारे लगी थी। मनु के नाम से ही यह शहर मनाली कहलाता था। यों ट्रैकिंग का रूट मनाली के बाद का था, वहाँ से व्यास कुंड, फिर आगे चीन की सीमा से लगता रोहतांग पास। यहाँ वे अपने देश के एक किनारे पर थे, पर जैसा तय था वे जयपुर से अपनी मिनी बस में सीधे मनाली के इस बेस कैम्प में पहुँच ही नहीं सके। सुबह पाँच बजे वहाँ से रवाना होकर रास्ते में रुकते-रुकाते उन्हें रात दस बजे तक तो हर हाल में मनाली पहुँच जाना चाहिए था, पर कुल्लू के बाद आधे रास्ते में ही बारिश के कारण भूस्खलन हो गया। ट्रैफिक रुक गया। उस वक्त रात के आठ बजे थे। नौ बजे के आसपास सड़क खोलने वाला राहत दल आ गया, पर उसने बताया कि सड़क को काफी नुकसान पहुँचा था, ट्रैफिक कल से पहले तो बिल्कुल नहीं खुल सकेगा। वे पीछे लौट सकते थे, पर उन्हें आदत थी ट्रैकिंग की। बस को वहीं छोड़ दिया और रात को ही मनाली के लिए पैदल निकल लिये।

रास्ते में एक छोटा-सा ढाबा मिला, वहीं डिनर हुआ और वे चल दिये। रात के अँधेरे को पछाड़ते वे लोग जब आगे बढ़ रहे थे तो लग रहा था जैसे दुनिया को जीतने निकले हों।

इतने रोमांच का अनुभव निर्भया को पहले कभी नहीं हुआ था। लग रहा था, दुनिया-जहान की तमाम उलझनें, साजिशें, ताकतवर लोगों के दुष्चक्र,

सब पीछे छूट गये हैं। बस एक जिजीविषा है जो उनके पैरों में आकर भर गयी है। वही है सबसे बड़ा सच जिसका एक ही लक्ष्य है, हमेशा आगे और आगे बढ़ते रहना है, अँधेरे की, बारिश की या और किसी भी आपदा की परवाह किये बिना।

वे लोग सुबह चार बजे अपने मनाली के उस ठिकाने तक पहुँच गये थे। निर्भया के पैर भारी होकर सुन्न पड़ रहे थे, पर उसे लगा था, थोड़ा सो लेने से सब ठीक हो जायेगा। पर अब दोपहर बाद उठ कर उसकी जो हालत थी, उसने उसे परेशान कर दिया था।

अपने पूरे शरीर में नीचे तक प्राणों का संचार करने के लिए उसने अबकी दफा एक गहरी साँस ली। लगा जैसे वह उधर दिखाई दे रहे देवदार की छाया में कुछ देर ठहर गयी है।

तभी उसे देवदार के पीछे से कुछ दूरी पर बने एक घर के आँगन में भागती-दौड़ती एक बच्ची दिखाई दी। बाहर फिर से तेज बारिश होने लगी थी। वह बच्ची अपने हाथों में कुछ चीजें उठाये अपने घर में चली गयी। उसके पीछे-पीछे उसकी माँ लकड़ियों का गट्ठर घसीटती उधर चली आयी। उसने गट्ठर को घर की दीवार के साथ लगा दिया और उसी पर बैठ कर बीड़ी सुलगाने लगी। घर की छत पर एक पुरुष चढ़ा था। वह वहाँ पॉलीथीन की शीट बिछाने की कोशिश कर रहा था।

प्रियंवदा खिड़की के पास चली आयी, ''खिड़की खोल दूँ?''

उसने हाँ में सिर हिला दिया। प्रियंवदा ने खिड़की को भीतर की तरफ जरा-सा खोल कर हुक से अटका दिया।

बाहर की ठंडी हवा ने तेज रफ्तार से कमरे पर जैसे हमला-सा कर दिया। कमरे में गुनगुनी गर्माहट थी, इसलिए बाहर से भीतर आती हवा की ठंडक एक तीखी सरसराहट की तरह देह के भीतर चुभती हुई-सी उतर गयी।

खिड़की से थोड़ा हट कर बायें कोने में हीटर सुलग रहा था। ठंडी हवा का झोंका उसकी मौजूदगी को दरकिनार करता हुआ सीधा निर्भया की ओर गया, पर उसे अच्छा लग रहा था।

''गुम से तो बेहतर है।''

''हमें हीटर की आदत हो गयी है।''

''हवा तेज है।''

''लगता है, कमरे को उड़ा ले जायेगी।''

''पहाड़ हवा को नहीं रोकते, उन पर बने कमरे ही रुकावट हैं।''

''हमें कमरों में रहने की आदत हो गयी है।''

''हम जो करते हैं, कुदरत के खिलाफ क्यों होता है?''

''हम बस इतना चाहते हैं कि आदमी पहाड़ों पर आसानी से आ-जा सके, रह सके।''

''पर उसके लिए हमें पहाड़ काटने पड़ें, ये क्यों जरूरी है?''

''पहाड़ की किसे परवाह है! हम सबको सुविधा से जीने की आदत हो गयी है।''

''पर इसीलिए हम लोग अपने पैरों से चलना भूल रहे हैं।''

''फिर वे पहाड़ों के ऊपर चढ़ने वाले हमारे-जैसे ट्रैकर्ज को देखते हैं तो हैरान हो जाते हैं।''

''कितनी भी बनाओ सड़कें, हर जगह नहीं जा सकतीं, पर आदमी के पैरों को आप कहीं भी जाने से रोक नहीं सकते। बस ठीक से ऊपर चढ़ने की कला आनी चाहिए।''

निर्भया के मन में अचानक एक अजीबो-गरीब ख्याल आया, पर उसने प्रियंवदा से कहा नहीं। उसे लगा कि उसे लगेगा कि वह थोड़ी पागल है। वह सोच रही है... अच्छा होता अगर पहाड़ भी गतका खेलते। ताकतवर लोग अपने खंडे लेकर आते। अपने डायनामाइट और बुलडोजरों से पहाड़ को खंड-खंड करने की कोशिश करते और पहाड़ खुद को बचा कर कहीं इधर-उधर खिसक जाते। खंडा पहाड़ को एक नया पहाड़ बनता देखता और लौट जाता... पर वह जानती है, ऐसा कभी नहीं होगा। ताकतवर लोगों की चौतरफा लूट से कुछ नहीं बचता। उसने सुन रखा है, जब भी कोई पहाड़ कटता है, कहीं कोई एक आदमी करोड़पति हो जाता है। पहाड़ काटने पर जो निकलता है, सब बेशकीमती होता है। पेड़ और पत्थर ही नहीं, तरह-तरह के खनिज भी हाथ लगते हैं। पत्थरों की ही कितनी किस्में हैं, जो चूना पत्थर से लेकर ग्रेनाइट तक की हो सकती हैं। वह न भी हो तब भी पहाड़ का एक-एक अंग-प्रत्यंग बिल्डिंग मेटेरियल के काम तो आता ही है। बस यहीं तक नहीं होती, लालची अफसर शेष पहाड़ के कुछ हिस्से को भी भू-स्खलन की चपेट में आया घोषित करके अपनी लूट-खसोट के मुनाफे में इजाफा करने की फिराक में रहते हैं। सबकुछ एक शृंखला में बँधा होता है। इसे अफसर लोग तकनीकी भाषा में 'वैल्यू-चेन' कहते हैं और मन्त्री लोग 'सर्वोदय'।

यहाँ पहाड़ों पर ट्रैकिंग करने की नीयत से देश की राजधानी तक को पीछे छोड़ आयी निर्भया को लगा था कि कुदरती माहौल में वह थोड़ी शान्त

हो सकेगी, पर ताकतवर लोग जैसे सब तरफ मौजूद थे, उसे यहाँ भी घेरने के लिए।

उसने सोचा, मनिन्दर भी इसीलिए कहीं दूर निकल भागना चाहता होगा, पर उन दोनों की स्थिति में एक फर्क है। मनिन्दर उनके फैलाये जाल की एक कड़ी-भर है, जबकि वह उनके पूरे जाल को दूर खड़ी देख पा रही है।

निर्भया कमरे में इधर से उधर इस तरह चक्कर काट रही थी, जैसे अपनी पैरों को नहीं, किसी भारी पत्थर को घसीट रही हो।

प्रियंवदा ने उसे सहज करने के इरादे से कहा, ''अपने आप से जीतना चाहोगी तो हारती रहोगी। गतके में तुम इसलिए जीतती हो, क्योंकि उसे बस एक खेल की तरह खेलती हो। कभी अपने आप से भी खेल कर देखो।''

कमरा अधिक ठंडा होने लगा तो प्रियंवदा ने कमरे की खिड़की को फिर से बन्द कर दिया और हीटर की पावर बढ़ा दी। हीटर के ठीक पीछे फायर प्लेस थी, जिसका मुँह पता नहीं कब से बन्द पड़ा था! उसने वहाँ पड़ी प्लाइवुड की शीट को सरका कर उसका मुँह खोल दिया। अवरोध हटते ही फायर प्लेस के मुँह से ताजी हवा का एक झोंका नीचे उतर आया।

फायर प्लेस में नीचे गिरता चीड़ के सूखे पत्तों का बुरादा भी फर्श पर इधर-उधर बिखरने लगा। उसने हीटर को उठा कर फायर प्लेस में रख दिया। वह बुरादा अब हीटर के शीशे के ऊपर से फिसल कर नीचे बिखरने लगा।

निर्भया ने कहा, ''लगता है जैसे यह फायर प्लेस नहीं, धरती के गर्भ से लावे को बाहर उगलते किसी ज्वालामुखी का छोटा-सा मुँह है।''

उसे याद आया, कभी वह 'ज्वाला जी' गयी थी। वहाँ अभी तक एक अखंड ज्योति जलती है– शान्त हो गये ज्वालामुखियों की याद दिलाती हुई। अचानक उसे लगा कि शिवालिक के ये सारे ऊँचे-ऊँचे पहाड़, जैसे पहाड़ नहीं, बेशुमार ज्वालामुखियों की स्मृतियाँ हों। पृथ्वी हमें कुछ भी भूलने नहीं देती। लाखों वर्षों तक इस पृथ्वी ने यों ही धधक-धधक कर शिवालिक की इतनी भव्य शृंखला को जन्म दिया है। उसकी कोख ने लाखों वर्षों के ऐसे दाहक ताप की वेदना को सह-सह कर आखिर हमें ये पहाड़ दिये। उनमें बेशुमार खनिज, पत्थर, उर्वर मिट्टी और जाने क्या-क्या कूट-कूट कर भर दिया! आकाश को छूती ऐसी भूमि दी जिस पर बारिश मेहरबान हो सके और असंख्य पेड़-पौधे, लताएँ और घास, वन, अपना घर बना कर हमेशा के लिए वहीं उगते रह सकें।

निर्भया को समझ नहीं आ रहा था कि पृथ्वी की लाखों-करोड़ों वर्ष की इस साधना को मिट्टी में मिला देने के लिए क्रेनें और बुलडोजर पहाड़ों के सीने में कैसे धँस सकते होंगे? वह सब जिसके बनने में सहस्राब्दियाँ लग गयीं, उस सबको हमारे वक्त के यन्त्र दानव क्या कुछेक दशकों में ही तबाह कर देने को जायज ठहरा सकते हैं। पहाड़ों पर जाने को आसान बनाने के लिए सड़क बिछानी जरूरी है, पर ऐसा करते हुए अगर पहाड़ ही पहाड़ों जैसे न रहे तो ऐसी तरक्की किसके काम आयेगी!

प्रियंवदा ने फायर प्लेस के भीतर झरने वाले प्रकृति के सारे अवशेष मिटा दिये।

ज्वालामुखी के उस मुहाने से अब राख झरनी बन्द हो गयी। हीटर के शीशे के पीछे से बस एक निष्कम्प धधकती 'क्वायल' दिखाई दे रही थी– निर्भया के भीतर चेतना के निष्कम्प हो जाने की तरह।

अगले दिन तक भी लगातार हो रही बारिश का असर दिखने लगा था। जहाँ वे ठहरे थे, उसके आसपास के लोग बता रहे थे कि आसपास के पहाड़ कई जगह दरक गये थे।

प्रियंवदा ने मन बना लिया था कि अगर जरूरत पड़ी तो वह अपनी टीम के साथ राहत कार्य के लिए निकल पड़ेगी।

निर्भया के पैरों की जकड़न भी अब तक काफी ठीक हो गयी थी। फिर भी उसने सुबह उठ कर 'मॉश्चराइजर' से ही अपने पैरों की खूब अच्छे से मालिश कर ली। एक दिन में ही उसे ट्रैकिंग के लिए फिर से फिट होता पाकर प्रियंवदा हँसी, ''तुझे तो ट्रैकर होना चाहिए था। तू कहाँ उस निहंगों वाले खेल के पचड़े में फँस गयी!''

''खेल, खेल होता है, उसे कौन खेलता है, क्यों खेलता है, इससे क्या फर्क पड़ता है।''

''क्यों नहीं पड़ता? सुना है वे लोग खूँखार से लोग होते हैं। तुम तो उस तरह की नहीं लगतीं।''

''सारे निहंग एक ही तरह के नहीं होते।''

''हम लोग अखबार में जो छपता है, वही जानते हैं। मैंने पढ़ा था पटियाला पुलिस ने जब कुछ निहंगों को कर्फ्यू पास दिखाने के लिए कहा तो एक निहंग ने एक एएसआई का हाथ काट दिया था और अभी पीछे सिंघु बॉर्डर की घटना... उस दिन तूने

ही तो बताया था। अब तेरा भाई मनिन्दर गायब हो गया।''

निर्भया को लगा कि ये सवाल उसके प्रिय गतके के खेल की आत्मा के भी मर जाने का था। उसने बचाव किया, ''गतका खेलना और बात है, निहंग होना और। गतका एक कला है, अपने जिस्म को सिर से लेकर पैरों तक जानने, समझने और इस्तेमाल करने की। मैं इसे खेलती हूँ तो लगता है ये पूरी कायनात मेरे साथ नाचती है। गतका तब भी था, जब निहंग नहीं थे। ये तब भी रहेगा, जब निहंग नहीं रहेंगे। ये तो भगवती के साथ अनादिकाल से यहाँ है। चंडी ने इसे सिखाया, फिर इसे बलराम ने, भीम और दुर्योधन ने और नकुल और सहदेव ने खेला। मेरे असल गुरु वही हैं।''

उनकी बातचीत आगे बढ़ती, इससे पहले ही बाहर कुछ शोर-सा सुनाई दिया। प्रियंवदा ने कमरे की खिड़की खोल कर बाहर झाँका। लोग इकट्ठे होकर सामने की तरफ इशारा करके आपस में कुछ कह रहे थे। उनका फ्लैट ऊपर की तीसरी मंजिल पर था। प्रियंवदा ने नीचे की ओर मुँह करके ऊँची आवाज में पूछा, ''क्या हुआ?''

उसकी आवाज पूरी घाटी में गूँजती हुई फिर से उसके पास लौट आयी– क्या हुआ?

नीचे से एक आदमी ने मुँह ऊपर करके कहा, ''बादल फट गया है।''

एक अन्य आदमी की आवाज आयी, ''सामने का पहाड़ सरक गया है।''

''कोप दिखा रही है हिडिम्बा माई।''

''हिडिम्बा माई।''

''हिडिम्बा माई।''

''कोई जगाओ रे मनु को...''

''मनु को जगाओ''

''जगाओ मनु को...''

खाली ध्वनियाँ।

और लौट-लौट आती प्रतिध्वनियाँ।

उस वक्त निर्भया अपने मोबाइल पर यूट्यूब का एक वीडियो देख रही थी। बीबीसी का पॉडकास्ट बता रहा था कि एक तिहाई पाकिस्तान बाढ़ की चपेट में है। जाने कितने लोग और मवेशी मर गये हैं। फसलें तबाह हो गयी हैं। वहाँ अफगानिस्तान के कुछ सिख नौजवान पहुँचे हैं राहत-कार्य में मदद करने। उनमें से एक की शक्ल कुछ-कुछ मनिन्दर-जैसी लग रही है। वह अपनी पीठ पर राहत-सामग्री के भारी बैग उठाये कुछ सिख नौजवानों के साथ घुटनों तक पानी वाले किसी इलाके में धीरे-धीरे पैर जमा कर आगे बढ़ रहा है। सबकी दाढ़ियाँ बढ़ी हुई हैं, चेहरे झुके हुए हैं, इसलिए कुछ भी ठीक से कह पाना मुमकिन नहीं है। लेकिन ऐसा अक्सर होता है। हम जो है उसे नहीं, वह देख रहे होते हैं जिसे देखना चाह रहे होते हैं। इस तरह की वैकल्पिक दुनिया हमारे आसपास अकसर रची जा रही होती है। अपनी उस दुनिया में हम इस कदर खोये होते हैं कि वह जो असल में घट रहा होता है, वह हमें इस तरह का प्रतीत होता है जैसे वह कोई सपना हो। एक ऐसा सपना, जिसे बहुत से लोग मिल कर एक साथ देख रहे हों।

सपना, जैसे कमरे के बाहर का शोर, प्रियंवदा का उठ कर खिड़की खोलना और उन सबका किसी खौफनाक सपने से घिर जाना।

सपना, जैसे इस एक दुनिया में एक साथ हजार दुनियाएँ हों, सबकी अपनी-अपनी अलग दुनियाएँ। वे जो अलग भी हों और सबकी साँझी भी हों।

प्रियंवदा अपने पूरे पर्वतारोही दल को मय सामान तुरन्त तैयार हो जाने को कह रही थी। निर्भया भी उठ खड़ी हुई। खिड़की से बाहर झाँक कर देखा। सामने घाटी में सब तरफ वैसा ही दृश्य है, जैसा उसने अभी उस पॉडकास्ट में देखा था। वैसा ही घुटनों तक भरा पानी। उसी तरह के नौजवान। पीठ पर जाने क्या-क्या लाद कर धीरे-धीरे पाँव आगे बढ़ाते हुए। वैसी ही दाढ़ियाँ। उसी तरह झुके हुए चेहरे।

एक पल के लिए उसे लगा कि पाकिस्तान भारत में लौट आया है।

पहाड़ क्या दरका, जैसे पूरा भूगोल बदल गया।

उसके भीतर से एक आवाज उठी, दर्द से भरी, आशंका से काँपती, उम्मीद से सिहरती– कहाँ हो वीरे...! मेरे मनिन्दर! कहाँ हो?

किसी ने नहीं सुनी। फिर भी उस उदार हृदयाघात घाटी ने उसे हवा की गूँज बना कर उसे लौटा दिया– ''कहाँ हो दीदी!''

''कहाँ हो?''

''कहाँ हो?''

निर्भया मुड़ी। उसके जिस्म में बिजली-जैसी फुर्ती आ गयी।

उसने लॉबी में पड़ी किट को दोनों बाँहें फैला कर पीठ पर लटका लिया। कमर में नायलॉन की मजबूत रस्सी को बाँधा। जमीन में नीचे कीलों के सहारे खुद जाने वाली एल्युमीनियम की स्टिक उठायी। घुटनों तक चढ़ने वाले जूते पहने। सिर पर हेलमेट चढ़ाया और एक अलग तरह के योद्धा की तरह एक नये मोर्चे पर निकल पड़ी।

प्रियंवदा और उसके साथ आगे-आगे चलते शेरपा को रास्ता

दिखाने के लिए उस कॉम्प्लेक्स के कुछ स्त्री-पुरुष भी साथ हो लिये।

तीन घंटे की कड़ी मशक्कत के बाद उन्हें लगा कि अब वे कुछ देर आराम कर सकते हैं।

वहाँ एक स्कूल के खेल के मैदान के आसपास की ऊँची जमीन पर सैंकड़ों पत्थर यूँ ही बिखरे हुए थे। पत्थर एकदम चिकने और गोल-मटोल थे जैसे नदियों में जल के तेज प्रवाह में दिखाई देते हैं। यहाँ पानी अपेक्षाकृत बहुत कम था। जो था, वह उन पत्थरों के बीच से आसपास से होता आगे निकलता जा रहा था।

घाटी से जिन लोगों को बचाया गया था, उन्हें यहीं इन्हीं पत्थरों पर ठौर-ठिकाना मिला था। उनका कुछ सामान भी वहीं ला-ला कर रखा जा रहा था। कुछ मवेशी भी थे जो बच गये थे और वहीं दूर-दूर तक जाकर अपने बैठने लायक जगह खोज रहे थे।

इन पर्वतारोहियों के अलावा भी बहुत से लोग थे जो अपनी-अपनी सामर्थ्य के मुताबिक मदद कर रहे थे। कुछ लोग ऊँची जगहों पर बने रिहायशी कॉम्प्लेक्स से खाने-पीने का सामान लेकर आ रहे थे।

तभी उन्होंने देखा कि एक गाय उनके बायीं ओर पड़े पत्थर की काई के ऊपर से फिसल कर उस ओर की एक बड़ी-सी खाई में नीचे लुढ़कती चली गयी थी।

प्रियंवदा अपनी लड़कियों के साथ उठ खड़ी हुई। उन्होंने मजबूत पत्थरों के बीच की एक जगह पर लोहे का एंकर गाड़ दिया, फिर शेरपा और दो लड़कियाँ कमर पर रस्सी बाँध कर धीरे-धीरे खाई में उतर गयीं। नीचे उतर कर अपनी रस्सियों को गाय के जिस्म से बाँध दिया। ऊपर खड़े कुछ लड़कों ने रस्सियों को खींच कर गाय को बाहर निकाल लिया।

तभी अचानक निर्भया ने वहाँ उसे देखा। खाई में एक बड़े-से पत्थर के भीतर से जड़ें जमा कर बाहर निकल आये पीपल के बिरवे के नीचे। उसने झट से अपनी कमर की रस्सी का दूसरा सिरा एंकर से बाँधा और खाई में उतरने लगी। प्रियंवदा ने उसे रोकने की कोशिश की, ''प्रैक्टिस नहीं है तुम्हें। चोट न लग जाये कहीं।''

उसने उसकी एक नहीं सुनी और धीरे-धीरे नीचे उतरती चली गयी। गाय को बचाने उतरी एक लड़की अभी भी नीचे थी। प्रियंवदा ने उसे वहीं रुकने का इशारा किया, फिर वह भी निर्भया की मदद के लिए पीछे-पीछे नीचे उतरने लगी।

नीचे पहुँचते ही निर्भया ने भाग कर पीपल के छोटे पेड़ की शाखाओं को इधर-उधर हटाया, फिर उस पत्थर पर औंधे लेटते हुए उसने उसके नीचे से उसे बाहर खींच निकाला।

वह काफी बड़े आकार का कछुआ था। उसकी बाँह जितना लम्बा। एकदम सुनहरी पीठ वाला। नीचे की तरफ झक्क सफेद। बाहर खींच लिये जाने पर भी वह अपने खोल में नहीं सिमटा। एक दफा जरा-सा कुनमुनाया और फिर से जैसे किसी गहरी नींद में चला गया। प्रियंवदा और उसकी साथिन कौतूहलवश उसके करीब चले आये। प्रियंवदा हँसी, ''ओह, कैसी पागल हो! इस कछुए को रेस्क्यू करने के लिए इतना जोखिम उठाया?''

''क्यों, क्या इसमें जान-प्राण नहीं?'' निर्भया ने प्रतिवाद किया और उसे सहलाने लगी।

''वो तो है, पर गाय को बचाया तो बचाया, अब कछुए भी जरूरी हो गये? ये समझ नहीं आया।''

निर्भया को सूझ नहीं रहा था कि वह प्रियंवदा को कैसे समझाये? फिर भी उसे एक तर्क सूझ गया, ''आजकल लोग गाय की पूजा करने लग पड़े हैं तो भूल गये हैं, कभी कछुए को भी एक अवतार माना जाता था।''

कछुआ एक दफा फिर कुनमुनाया। प्रियंवदा ने कहा, ''लगता है इसके प्राण निकल रहे हैं धीरे-धीरे।''

निर्भया ने पहले कछुए की तरफ देखा, फिर प्रियंवदा का प्रतिवाद करती हुई शान्त, पर मजबूत लहजे में बोली, ''नहीं मर सकता है ये, नहीं मर सकता। बस नींद टूट रही है इसकी। इसे यहाँ से बाहर निकालना जरूरी है। नींद टूटने पर कछुआ हिलता है तो उसकी पीठ के ऊपर का भार सरकने लगता है। जैसे ये पत्थर सरक रहा था, पहाड़ होता तो वो भी सरक जाता। फिर वैसी ही तबाही होती, जैसी देख रहे हैं हम। चलो एक कछुआ तो हाइबरनेशन से बाहर आया!''

निर्भया ने कछुए को अपने पिट्ठू में डाल लिया और वापिस ऊपर चढ़ने लगी।

प्रियंवदा को कुछ समझ नहीं आया। आता भी कैसे? निर्भया तो अपने कच्छू कुम्मे की तलाश में थी। अपने मनिन्दर की तलाश में। उसके दिल की धड़कनों ने पुकारा– 'मनिन्दर!'

उसके पिट्ठू की अधखुली जिप से अपना मुँह बाहर निकाल कर, कछुए ने जागते हुए जवाब दिया– खखिंखर...

ए-563 पालम विहार, गुरुग्राम-122017
(हरियाणा)
मो 9814658098

गुजराती कहानी

सपेरा

चुन्नीलाल माड़िया
अनुवाद : निशान्त उपाध्याय

जाखड़ा सपेरा अपनी बीन बजा रहा था जिसमें सफेद फूलों-जैसी कौड़ियाँ जड़ी हुई थीं। वह उसे इतने दम से बजा रहा था जैसे किसी लुहार की धौंकनी चल रही हो। उसके गाल जैसे फूँकते-फूँकते फट पड़ेंगे। प्रस्तुति अपने चरम पर थी। नर और मादा कोबरा, जिन्हें उसने उजाड़िया की चट्टानों में एक बाँबी से फुफकारता हुआ पकड़ा था, अब भारी जमा भीड़ के बीच झूम रहे थे। दोनों साँप, अपने चौड़े फनों को छलनी की तरह फैलाये हुए खुद को आधे हवा में उठाये हुए थे।

साँप जितना ज्यादा झूमते, कार्यक्रम की शुरुआत में घुटनों पर बैठा जाखड़ा उतना ही खड़ा होता जाता। उसके चेहरे की माँसपेशियाँ हर गुजरते पल के साथ और सख्त होती जातीं। ऐसा जान पड़ता था कि वह अपने पेट की गहरी वीरानियों से हवा खींच-खींच कर अपनी बीन में भरता जा रहा हो। इस सब नाटक के पीछे जायज कारण भी था– वह अपनी पेटी में ऐसा साँपों का जोड़ा रखकर लाया था जो और किसी आत्मा के मन्त्र के वशीभूत नहीं हो सकते थे। और मान लो कि हो भी जाते तो ये साँप किसी की डलिया में कैद तो नहीं ही रह सकते थे। जाखड़ा ये मुश्किल कारनामा, अपने मृत पिता से विरासत में मिलीं जादुई शक्तियों के सहारे कर पाया था; जिनकी कम से कम आस-पास के गाँवों में तो कोई बराबरी नहीं कर सकता था। गाँव के मुखिया के कहने पर उस दोपहर वह अपनी पहली सार्वजनिक प्रस्तुति दे रहा था।

कोबरा का जोड़ा, बीन की रमणीय धुन की दिशा में झूम-मटक रहा था। उनका नाचना ऐसा था जैसे हवा चलने पर खेतों में दानों से लकी-दकी बाजरे की कलगियाँ लहराती हैं। दर्शक अपने सामने घटते दृश्य में पूरी तरह डूबे हुए थे। सारी आँखें उस लहराते जोड़े पर टिकी हुई थीं। दोनों साँप अपने सिर के पास नजाकत-भरे घुमाव के साथ ऐसे दिख रहे थे जैसे दो पतले शरीर कमर झुकाये खड़े हों।

ये जाखड़ा की जिन्दगी का सबसे बड़ा पल था। ये क्षण उसके पिता द्वारा दी गयी पवित्र ताकत के प्रमाणित होने का क्षण था। वह ताकत जिसको प्राप्त करने के लिए साधक को कठोर व्रत-संयम बरतना पड़ता था।

जाखड़ा की यह तपस्या सालों पहले शुरू हो गयी थी। बूढ़े लाधू ने, जो खुद पूर्ण शुद्धता नहीं बरत पाया था, अपने इकलौते बेटे को इस पवित्र ताकत की राह में प्रवेश कराया था, जिससे ये परम्परा गुमनामी में न चली जाये। उसी वक्त उसने अपने बेटे को इस रास्ते की मुश्किलों और खतरों के बारे में भी आगाह किया था। उसने कहा था कि ये मार्ग ऐसी शुद्धता की माँग करता है जो योगियों की साधना से भी ज्यादा कठिन होगी। उसने इस बात पर खासा जोर दिया था कि इस रास्ते पर सफलता पाने के

लिए तन-मन-वाणी की त्रिकोणीय शुद्धता अवश्यंभावी है। जरा-सा भटकाव, और व्यक्ति ज्ञान की ऊँचाइयों से सीधा खाई में जा लुढ़कता है।

जाखड़ा तब बहुत छोटा था, फिर भी वह इस खेल से अनजान नहीं था। जब उसका बाप अपने कन्धे पर 'जानवरों' की टोकरी ले गाँव-दर-गाँव घूमता था, तब जाखड़ा तिरपाल का एक झोला लटकाये साथ चलता था, जिसमें बीन, कटोरा, सपेरे का थैला और ऐसी कई चीजें पड़ी होतीं। जब खेल शुरू होता, उसका बाप अपनी आँखें साँपों पर गड़ा लेता था और जाखड़ा की तेज आँखें धूल में गिरते सिक्कों को उठाने को लालायित रहतीं। वह खेल शुरू होने से पहले की सब व्यवस्था देखता था– मसलन छोटी तुरही बजा कर भीड़ को बुलाना (पहले बच्चे इकट्ठे होते, फिर बड़े), खेल के लिए जगह खाली करना, थैले से नेवले को निकाल उसकी पूँछ जमीन में गाड़ना इत्यादि। इस दौरान लाधू धतूरा खींच कर अपने दुरूह काम के लिए तैयार होता। खेल के अखीर में जब वह इकट्ठा हुए बच्चों को घर से आटा लाने का धमकी-भरा आदेश देता (न लाने पर उनकी माँओं को गाली बकता) और जब डरे हुए बच्चे अन्ततः कुछ बचा-खुचा सामान ले कर आते, जाखड़ा ही था जो उन सब टुकड़ों को इकट्ठा कर अपने थैले में भर लेता था।

ये एक अनलिखा, अनकहा, शाश्वत नियम था कि बाप और बेटे को शाम घिरने से पहले कस्बे से बाहर निकल जाना है। अगर वे ऐसा करने में विफल होते तो उन्हें पुलिस का सामना करना पड़ता था। असल में जब वे कस्बे की सीमा छोड़ रहे होते, उन्हें वहाँ तैनात गार्ड को अपने थैले के सामान की तलाशी लेने देनी होती थी– कहीं ऐसा न हो कि वो अपनी डलिया में कोई ऊँची जात का बच्चा उठाये ले जा रहे हों!

बाप-बेटे जंगल में भीतर तक जाते और रोटी के टुकड़े निकाल रख लेते। अगर खाने को पर्याप्त नहीं होता था तो लाधू जाखड़ा को भरपेट खिलाता, भले खुद भूखा रह जाता। साँपों के लिए वह एक उथले कटोरे में दूध डाल देता। कभी-कभी जब इमली के मोटे-चौड़े पेड़ से छनकर आती चाँदनी जाखड़ा के गुलाबी मनोहर चेहरे पर लुका-छिपी खेलती, लाधू को जाखड़ा की माँ याद आने लगती जो उतनी ही गुलाबी और आकर्षक थी। लेकिन लाधू के अन्दर का तपस्वी उसके अहसासों को थाम उसे वापिस होश में ले आता। वो खुद से कहता, ''तू उसका इस कदर दीवाना था कि तूने अपनी लाख टके की जादुई ताकत हाथों से फिसला दी। क्या इस राह का राही किसी औरत का दीवाना होना वहन कर सकता है? इसके लिए तो मजबूत संकल्प-शक्ति चाहिए। जरा-सी गफलत हुई और हमें तुरन्त जान से हाथ धोना पड़ेगा। इस कला को साधना कठिन है, लेकिन उससे ज्यादा कठिन है एक बार इसे साध लेने के बाद इसका प्रयोग करना। शेरनी का दूध तो सोने के कटोरे में ही ठंडा होगा, मिट्टी के मटके में नहीं। जब धरती पर गंगा मैया आयीं तो क्या खुद महादेव को भी वहाँ नहीं रहना पड़ा था?''

और ऐसे क्षणों में लाधू का अदम्य ख्वाब अँगड़ाई लेने लगता और उसके कानों में फुसफुसाता, ''अपने बेटे को अपने दिल की अधूरी तमन्ना पूरी करने दे। तूने ये जादू बड़ी कठिनाई से सीखा था। इसे गुमशुदा मत होने दे। जो तू न कर सका, वो अपने बेटे को करने दे और आस-पास के सभी सपेरों को पछाड़ दे!''

गर्व और महत्त्वाकांक्षा से लबालब हो उसने जाखड़ा को ताउम्र ब्रह्मचारी बने रहने का आदेश दे दिया। एक साधक का जीवन तमाम मुश्किलों और कठिन कार्यों से भरा रहता है। बचपन से ही जाखड़ा आत्मत्याग के दुरूह जीवन-पथ पर बढ़ चला था। वह छह महीने की बच्ची की तरफ भी निगाहें नहीं डालता। संसार की हर औरत या तो माँ थी या बहन! निषिद्ध भोजन ग्रहण नहीं करता। किसी और का स्पर्श किया पानी नहीं पीता। अपने शरीर को साफ रखता था। जब तक वह निर्धारित मन्त्र पढ़ते हुए अपने जूतों को तीन बार जमीन पर पटक उनकी धूल नहीं झाड़ देता था, अपने पैर उन जूतों में नहीं डालता और यहाँ तक कि गलती से भी किसी 'अधर्मी' से छू जाता था तो तुरन्त नहा लेता था।

जाखड़ा बड़े होते-होते एक सुन्दर युवा में बदल गया– किसी मोर की तरह सुशोभित। अपने पिता की मर्दाना ताकत और माँ की मनुहारी चमक उसे समानानुपात में मिले थे। दिमाग के सख्त प्रशिक्षण और अपनी इन्द्रियों पर चौकस नियन्त्रण की वजह से उसके लालित्य-भरे चेहरे में एक अलग ही उजास थी। उसके शरीर की हर रेख उसके तप का अर्थपूर्ण रेखांकन करती थी और उसके चेहरे पर उभरती लालिमा उसके इतनी कम उम्र में अपने फन का उस्ताद हो जाने की बानगी कहती थी।

उसने अपने जादुई कौशल को

कसौटी पर परखने के लिए कोबरा के एक जोड़े पर प्रयास साधा। ऐसी अफवाह उड़ रही थी कि साँपों का ये जोड़ा उजाड़िया के एक खेत में बनी बाँबी में रह रहा था। बड़े-बड़े सपेरे वहाँ अपनी बीन बजाते-बजाते थक गये, लेकिन साँपों ने बाहर निकल कर टोह तक न ली। जाखड़ा भी वहाँ गया और सफेद दाँतों की पंक्ति-सरीखी कौड़ियों से जड़बद्ध अपनी बीन बजाना शुरू की। दो दिन गुजर गये– कुछ भी नहीं हुआ, लेकिन तीसरे दिन कोबरा उसकी बीन से निकलते मधुर संगीत के आगे हार गये। वे उन मीठी तानों पर लहराने से खुद को रोक नहीं पाये। एक अलहदा शाही अन्दाज में वह जोड़ा बाँबी से निकल आया। जाखड़ा ने वक्त जाया किये बिना तुरन्त उन्हें अभिमन्त्रित कर लिया। उसके संगीत के जादू से मन्त्रमुग्ध कोबरा किसी लकड़ी के टुकड़े की तरह सख्त जमीन पर पड़े रहे और आखिर में जाखड़ा की पेटी में चले गये।

अपने आखिरी वक्त में लाधू ने कहा था, ''भगवान हमसे तभी प्रसन्न होते हैं, जब हम अन्य जीवों को भी अपने-जैसा, मानव-तुल्य मानें। एक साँप को पन्द्रह दिन तक अपने पास रखना चाहिए और पन्द्रहवें दिन छोड़ देना चाहिए। अगर एक भी दिन और उसे रखा तो यह उस भोले जीव का शोषण करने-जैसा होगा और भगवान हमें इस पाप की सजा देंगे।''

इस सलाह को मानने वाला जाखड़ा जानता था कि साँप के दाँत निकाल लेने के बाद तो कोई बच्चा भी उसके साथ आराम से खेल सकता है, लेकिन अपनी बीन की नशीली धुन पर गर्व करते हुए उसे महसूस हुआ कि वह खतरनाक से खतरनाक साँप को भी बिना दाँत निकाले नियन्त्रित कर सकता है। सो उसने अपनी पेटी में रखे साँपों के साथ ऐसा उपक्रम नहीं किया।

हवाओं ने ये खबर यकायक फैला दी कि जाखड़ा ने साँपों का एक नया जोड़ा पकड़ा है और उसे सिर्फ अपनी बीन से काबू में कर रखा है। खबर गाँव के बड़ों तक पहुँची तो उन्होंने जाखड़ा के लिए बुलावा दे भेजा।

जाखड़ा ने खेल शुरू करने से पहले की तैयारियाँ कर लीं। सभी मुन्तजिर दर्शक साँस साधे खड़े थे। सारी आँखें मस्ती में झूमते-बलखाते साँपों पर टिकी थीं, लेकिन एक जोड़ी आँखें ऐसी भी थीं जो न बीन पर थीं न उन साँपों पर, वे तो बीन बजाते सुन्दर सपेरे को निहार रही थीं। उन आँखों के लिए नाचते साँपों से ज्यादा आकर्षक उन साँपों को नचाने वाला था। ये तेजा बा की आँखें थीं जो अपने किले की परछत्ती की ओट में छुपी खड़ी थीं। तेजा बा नयी ठाकुरनी थीं– मोहकता और यौवन के फव्वारे-सी। पूरा गाँव उन पर लट्टू था। तेजा बा को अपनी सुन्दरता पर इतना अभिमान था कि वे अच्छे-अच्छे राजकुमारों की तरफ भी नहीं देखतीं, लेकिन उनके अन्दर ये हताशा भी थी कि उन्हें आज तक अपने लायक आदमी नहीं मिला था। जिस पल उनकी नजर जाखड़ा पर गयी, उसी पल उन्हें महसूस हुआ कि यही वह व्यक्ति है जिसके साथ वे अपना जीवन गुजार सकती हैं।

जाखड़ा अपने गालों को, नारियल के खोलों की तरह फुलाता हुआ बल खा रहा था और उसके साथ कोबरे का जोड़ा भी झूम रहा था। नर कोबरा की गर्दन के बीचों-बीच एक प्यारा-सा धूसर-काला निशान था जो उसकी सुर्ख नीली-सफेद गर्दन के बीच गजब का सुन्दर लग रहा था। उसे देखने पर शिवलिंग के ऊपर बने हुए छत्र की याद आती थी। अपने जोड़ीदार के साथ नाचती मादा कोबरा का शरीर पुरद्वार की मेहराब-जैसा घुमाव लिया हुआ था। जाखड़ा के आँख-कान-नाक अब नर कोबरा की थूथन और मादा कोबरा की चमकती आँखों पर जमे हुए थे। जाखड़ा और उसकी बीन एकमेक हो गये थे।

वे आँखें जो उस तिलिस्मी खामोशी में झुकी हुई थीं– वे एक बार को भी ऊपर क्यों नहीं उठीं?

आखिरकार तेजा बा ने अपने कंगन दरवाजे से टकरा दिये जिससे वे सारी झुकी आँखें उनकी तरफ को मुड़ जायें। उसी खनखनाहट पर सिर्फ एक पल को... जी हाँ! सिर्फ एक पल को, जाखड़ा की पलकें उठ गयीं।

और उसी एक पल में जाखड़ा ने जीवन-भर का एक अनुभव जी लिया।

जब बीन के स्वर अपने शीर्षस्थ बिन्दु पर पहुँच गये थे तब कोबरा का जोड़ा अपनी धुन में उन्मुक्त हो चुका था। उनके आनन्दमय नाच से उन्हें वापस लाने के लिए बीन के स्वरों को हौले-हौले नीचे लाना था, लेकिन उसकी जगह धुन यकायक टूट गयी थी और इससे मदमत्त साँपों की तन्द्रा टूट गयी, जिसने एक भयावह पीड़ा को जन्म दिया और जिसके बाद का फूटा क्रोध और जहर उससे भी ज्यादा भयावह थे।

एक डरावनी फुफकार के साथ साँप का फन तेजी से जाखड़ा की हथेली पर पड़ा और उसके तीखे दाँतों ने वहाँ एक गहरा जख्म छोड़ दिया। जाखड़ा के हाथ से बीन छूट गिर

गयी। भीड़ उलझन में थी, लेकिन वह अभी भी सतर्क था। उसने कैसे-भी करके साँपों को वापिस अपनी पेटी में बन्द कर दिया।

जरा देर में ही कोबरा द्वारा काटी गयी जगह पर एक हरे काँच-सा गोल निशान उभर आया। खेल देखती भीड़ ने जो सिक्के जमीन पर फेंके थे, वे अनछुए वहीं पड़े रहे और जाखड़ा साँपों की पेटी पर सिर टिकाये बेहोशी में चला गया।

पूरे कस्बे में आग की तरह खबर फैल गयी कि जाखड़ा को कोबरा ने काट लिया है। भीड़ में से एक व्यक्ति बोला, ''साँप को कितना भी दूध पिला लो साँप, साँप ही रहता है। अपना स्वभाव इतनी आसानी से नहीं छोड़ता।''

और फिर दूसरी आवाज आयी, ''कितना भी छोटा क्यों न हो, कोबरा तो खतरनाक ही होवे! जहर आदमी को छोड़ता नहीं है। कम हो या ज्यादा, जहर तो जहर है!''

फिर, ''कहते नहीं हैं कि मिस्त्री की मौत दीवार बनाते में और मोती ढूँढ़ने वाले की मौत समन्दर में ही होती है? तो उसी तरह सपेरे की मौत भी तो साँप से ही होगी!''

''मजाक है क्या? ऐसे खतरनाक साँपों को डलिया में कैद कर रखना? चाकू की धार पर चलने-सरीखा है ये। सिद्ध योगियों की तरह तप करना होता है– और खुद को कई तरह के प्रलोभन से बचा कर रखना होता है। सिर्फ ऐसी महान शुद्धता की ताकत धारण कर कोई इन साँपों को काबू में रख सकता है, वरना बाँबी में रहने वालों को पेटी में डाल के रखना कोई बच्चों का खेल तो है नहीं!''

''अरे और कोई अनुभवी सपेरा हो तो बात बने! जाखड़ा तो बेचारा बच्चा है अभी। क्या ही कर लेता?''

''और भाईसाहब... विश्वास मानिये, ये सपेरों का काम अपने आप में एक कला है– और बड़ी ही मुश्किल कला है। साँपों का अपनी औलादों-जैसा ख्याल रखना होता है। अगर पकड़ लिया है तो पन्द्रह दिन से ज्यादा अपनी पेटी में नहीं रख सकते आप।''

''अरे! मैं तो कहता हूँ चन्द सिक्कों के लिए कोबरा को अपनी बीन पर नचवाना कोई मजाक है क्या? लोहे का जिगर चाहिए और लोहे का जिगर होना कोई मामूली बात नहीं। मन साफ होना चाहिए और आँखें छलकते तेल-सी तरल। जरा-सी अशुद्धि भी बहुत नुकसान कर देती है। सपेरों को श्राप है भीख माँगने का– उन्हें हाथ हर घर के आगे फैलाना चाहिए, लेकिन आँखें हमेशा झुकी रखनी चाहिए। चाहे घर की औरत के कंगन ही क्यों न खनक जायें, सपेरे की आँखों को कभी ऊपर नहीं देखना चाहिए।''

''ज्ञान के पथ पर तो ऐसे ही जाया जाता है और विद्या तो पारे-सी होती है। सिर्फ लायक और सीखा हुआ व्यक्ति ही उसे पचा सकता है और फिर साँपों को पकड़ना और उन्हें बीन पर नचवाना एक पूरी कला है भाई! ढीले-ढालों को तो इसका सोचना भी नहीं चाहिए। सपेरों का कारोबार तो कोई भी आसानी से पकड़ लेता है, लेकिन इस कला में महारत हासिल करना– ये तो कोई विरला ही कर पाता है।''

जाखड़ा को कोबरा के जहर से मुक्ति दिलाने वछड़ का भुव आया, जो कस्बे में ऐसे मामलों का सबसे बड़ा जानकार था। वह मन्त्र पर मन्त्र पढ़ता गया, लाख कोशिशें कीं लेकिन जाखड़ा को कोई राहत नहीं पहुँची।

लोग निराश थे। जाखड़ा ऐसे बेजान पड़ा हुआ था जैसे गहरी नींद में हो। उसके अन्दर कोई चेतना ही महसूस नहीं हो रही थी। वहाँ मौजूद दर्शक अब अलग-अलग तरह से अपनी निराशा व्यक्त कर रहे थे। वे भुव के लिए एक चुनौती की तरह बन गये थे जो अब हताशा में मन्त्र रटता जा रहा था, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। उसने साँप-काटे के निवारण की आखिरी विधि शुरू की। उसने कपड़े का एक लम्बा टुकड़ा लिया, फिर कुछ और मन्त्र पढ़े, जिसके बाद उसने साँप को एक आखिरी चेतावनी दी।

अब सभी को लग रहा था कि जाखड़ा के जख्म से जहर निकल जायेगा और अगर नहीं निकला तो भुव जैसे-जैसे कपड़े को फाड़ता जायेगा, वैसे-वैसे साँप का शरीर भी टूटता जायेगा!

जाखड़ा की देह के पास बैठे लोगों को ऐसा महसूस हुआ कि वह अर्धसुप्तावस्था में कुछ बुदबुदा रहा है। वह कहना चाहता था, ''भुव... पेटी में पड़े उन मासूम जीवों को क्यों परेशान कर रहा है? अगर सिर्फ साँप का जहर होता तो कब का उतर चुका होता, लेकिन उस जहर के साथ एक और जहर मिला हुआ है जो खट्टा भी है और मीठा भी, इसलिए तेरा जादू काम नहीं करेगा।''

लेकिन इससे पहले कि भुव अपनी आखिरी आजमाइश शुरू कर पाता, जाखड़ा के प्राण उड़ चुके थे।

लेकिन परछत्ती से झाँकतीं वे दो चमचमाती आँखें जाखड़ा की मृत देह पर जमी रहीं।

(सरला जगमोहन के अँग्रेजी अनुवाद पर आधारित)

माथुर चतुर्वेदियों के संस्कार और विरासत को संजोती

3 किताबें

लेखक - डॉ. विनीता चौबे

संस्कार गीत
(माथुर चतुर्वेदियों की समृद्ध परंपरा)
मांगलिक अवसर पर गाये जाने वाले 1000 से ज्यादा गीतों का संग्रह

मूल्य ₹400

मथुरास्थ चतुर्वेदी संस्कार
(सोलह संस्कारों की सरल रीतियां)
सोलह संस्कारों का सरल भाषा में लेखन

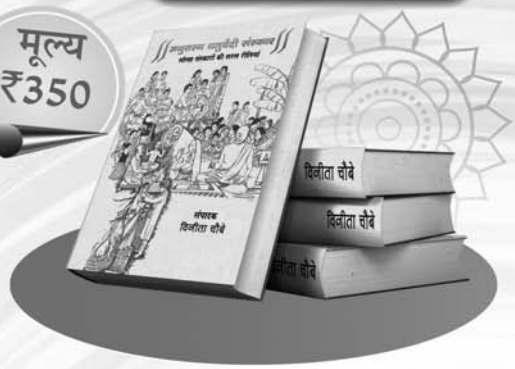

मूल्य ₹350

चतुर्वेदी चंद्रिका
(सामाजिक बदलाव के 125 साल)
चतुर्वेदी पत्रिका के 130 वर्षों की यात्रा पर गहन शोध

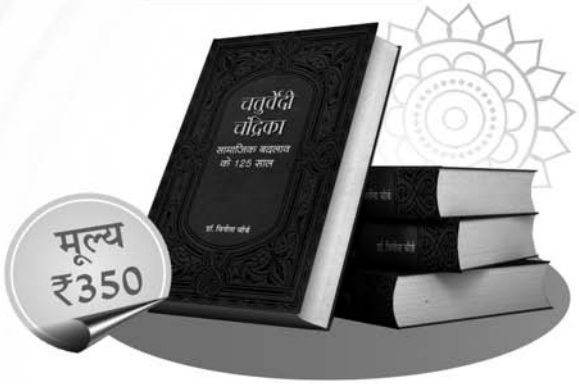

मूल्य ₹350

तीनों पुस्तकें एक साथ
खरीदने पर कुल
मूल्य पर 20% की छूट

आज ही अपनी प्रति बुक करें

आईसेक्ट प्रकाशन, ई–7/22, एस.बी.आई.
अरेरा कॉलोनी, भोपाल – 462016 (म.प्र.)

संपर्क :
+91-755-4851056, 9111006854,
9039535983

पुस्तकें अमेजन पर उपलब्ध amazon

गुडबुक

अक्स : अखिलेश

समय, समाज व साहित्यिकों का अनूठा वृत्तान्त

अवधेश मिश्र

अखिलेश हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। 'तद्भव' के सम्पादक के रूप में उन्होंने झंडे गाड़े हैं और जब उन्होंने कथेतर लेखन किया तो कमाल ही किया है। पहली बार 'वह जो यथार्थ था' के रूप में और दूसरी बार उनका शाहकार 'अक्स' के रूप में हमारे सामने है जो बकौल मुखपृष्ठ समय, समाज एवं साहित्यिकों का अनूठा वृत्तान्त है। यानी किताब को किसी प्रचलित परम्परागत साहित्यिक विधा के रूप में वर्गीकृत करने से सचेत परहेज किया गया है। तो बात पहले 'वृत्तान्त' पर करते है, यानी घटना या जीवन का वर्णन। यह वर्णन परम्परागत विधागत सीमाओं का एक मानीखेज विलोपन करता है 'अक्स' में।

'वृत्त' एक ज्यामितीय संरचना भी होती है जिसका न आदि होता है न अन्त। यानी शुरुआत और आखिर से बेखयाली। यह बेखयाली अखिलेश के गद्य की शक्ति है जिसमें लिखित शब्द के माध्यम से कहने-सुनने का साझा स्पेस सृजन करने की क्षमता है। यानी जो सिलसिला 'वह जो यथार्थ था' से शुरू हुआ, वह 'अक्स' में भी जारी है और अभी तक असमाप्त है। 'अक्स' के पहले ही अध्याय 'स्मृतियाँ काल के घमंड को तोड़ती हैं' में अखिलेश कथा और संस्मरण दोनों विधाओं की समान रचनात्मक मुश्किलों एवं विलगाव की बात करते हैं– विलगाव सत्य एवं गढ़न्त के स्तर पर– *संस्मरण सत्य पर आधारित है और कहानी या उपन्यास गढ़न्त होती है, इस तथ्य को गलत नहीं कहा जा सकता लेकिन पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता।*

यानी संस्मरण में घटना एवं वर्णन के मध्य जो समयान्तराल है, वही गढ़न्त की लीला को चाही-अनचाही भूमि प्रदान करता है और कहानी की उड़ान भी यथार्थ अथवा सत्य की डोर से बँधी रहती है।

सत्य और गढ़न्त के इस रिश्ते की पड़ताल के कई सूत्र 'अक्स' में मिलते हैं। अखिलेश के उपन्यास 'निर्वासन' का एक अध्याय है– 'सबको माफ कर देना चाहिए सिवा खुद के'। 'अक्स' के 'पिता-माँ और मृत्यु' में अस्पताल में पिता अन्तिम विदा के समय हाथ जोड़ रहे थे। यहाँ अखिलेश कहते हैं– 'उनके सम्मुख सभी उनसे कम उम्र थे, उनको प्रणाम करने की उन्हें जरूरत न थी। फिर क्या वह हमें माफ कर दे रहे थे या स्वयं अपनी भूलचूक के लिए माफी माँग रहे थे।' 'अक्स' के दो अध्याय 'भूगोल की कला' और 'छठवें घर में शनि' अखिलेश के काठीपुर, सुल्तानपुर, इलाहाबाद और लखनऊ में बिताये गये समय से वाबस्ता हैं। उपन्यास 'निर्वासन' इन अध्यायों के विविध प्रसंगों से एक संवादात्मक रिश्ता बनाता है। दादी के जीवन के अन्तिम दिन, वरुण एक्सप्रेस की दैनिक यात्रा और पर्यटन विभाग का मुखिया परिपूर्णानिन्द बृहस्पति, सभी अपने मूल बीज रूप में 'अक्स' में मौजूद हैं जिनका यथोचित प्रसार-रूपान्तर 'निर्वासन' में हुआ है।

'जालन्धर से दिल्ली वाया इलाहाबाद' यानी रवीन्द्र कालिया से सम्बद्ध अध्याय। शहर इलाहाबाद अब प्रयागराज हो चुका है, किन्तु अखिलेश और रवीन्द्र कालिया ने इलाहाबाद को भरपूर जिया है। छात्रों, राजनेताओं, साहित्यिकों से भरे-पूरे इसी इलाहाबाद को पुनर्जीवित किया है अखिलेश ने रवीन्द्र कालिया को याद करते हुए। कस्बाई साहित्य-प्रेमी युवक से लेकर महत्त्वपूर्ण कथाकार-सम्पादक तक की अखिलेश की यात्रा भी इस अध्याय में समानान्तर रूप से दर्ज है। अखिलेश, रवीन्द्र कालिया से कई स्तरों पर प्रभावित भी हैं किन्तु एक संस्मरण-लेखक के रूप में वह इस प्रभाव से यथाअवसर निकल भी आते हैं, यानी रवीन्द्र कालिया की खूबियों-खामियों का एक सरस वृत्तान्त प्रस्तुत करते हैं। रवीन्द्र कालिया भी कथेतर गद्य में सिद्ध लेखक हैं। संस्मरणों पर उनकी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है–

'गालिब छुटी शराब'। इसमें प्राध्यापक, चिन्तक, राजनेता देवीप्रसाद त्रिपाठी का जिक्र खूब हुआ है। यह भी देखना दिलचस्प है कि देवीप्रसाद त्रिपाठी 'अक्स' में भी मौजूद हैं 'अब तक जोन गोत अनगवल' नामक अध्याय में।

देवीप्रसाद त्रिपाठी अखिलेश के गाँव मलिकपुर नोनरा के मूल निवासी हैं यानी अखिलेश देवीप्रसाद त्रिपाठी के बहुविध विकास (प्रतिभाशाली छात्र, छात्रनेता, प्राध्यापक, राजनेता) के कनिष्ठ साथी रहे हैं। 'अक्स' में अखिलेश कहते हैं– 'उस शख्स के साथ जो भी कहें, कुदरत, ईश्वर और किस्मत ने अन्याय किया। लेकिन इस अपराध का प्रायश्चित करते हुए विस्मयकारी वरदान भी दिये।' यह संस्मरणात्मक सन्दर्भ अखिलेश की कहानी– शृंखला में कुछ इस तरह आता है– 'उसकी किस्म ही मुखालिफ है। आँखें जन्म से खराब, थोड़ा बड़ा हुआ– एक्सिडेंट में माँ–बाप–भाई–बहन मर गये और अब यह नयी मुसीबत। लेकिन वह बहुत भला लड़का है। पढ़ने में भी बहुत तेज था, हमेशा पढ़ाई में अव्वल आता था।' यानी शृंखला का कथानायक रतनकुमार एक प्रकार से देवीप्रसाद त्रिपाठी पर आधारित गढ़न्त है। अखिलेश की कलम से निकले ये दोनों आख्यान/वृत्तान्त अखिलेश की रचना–प्रक्रिया से भी एक साक्षात्कार करते हैं।

'भूगोल की कला' और 'छठे घर में शनि' नामक अध्यायों में अखिलेश वक्ता–भोक्ता की केन्द्रीय भूमिका में उपस्थित हैं। कादीपुर, सुल्तानपुर, इलाहाबाद और लखनऊ के सांस्कृतिक भूगोल से, अखिलेश के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी निर्माण होता है। वह स्वयं कहते है– 'कहानी या उपन्यास जब लिखा जाता है तो उसमें लेखक अपने को निश्चित ही विस्तृत व्यक्त करता है। यह व्यक्त करना दो तरह से होता है, एक निज के तजुर्बों (जिसे आपबीती कहते हैं) को रचता है। इस कड़ी में वह अपनी संवेदनाओं को जुबान देता है। दूसरा– कथाकार दूसरों की भी दास्तान लिखता है पर वहाँ भी वह स्वयं के बारे में कह रहा होता है पर वह भिन्न ढंग से निर्मित होता है।' यहाँ अखिलेश अपने कथा–साहित्य को समझने की एक कुंजी दे रहे हैं।

अखिलेश से इलाहाबाद छूटता है। हिन्दी संस्थान की पत्रिका के उपसम्पादक के रूप में उनका स्थानान्तरण लखनऊ होता है और यहाँ मिलते हैं उन्हें मुद्राराक्षस, वीरेन्द्र यादव, श्रीलाल शुक्ल, विनोद दास, राजेश शर्मा और भी कई। यहाँ उन्हें हिन्दी संस्थान के प्रमुख के रूप में परिपूर्णानिन्द वर्मा भी मिलते हैं। परिपूर्णानिन्द वर्मा के एक कथन का उल्लेख अखिलेश करते हैं– 'मैं अभी मरूँगा नहीं। मुझको भवानी सिद्ध हैं, एक सौ दो साल जिन्दा रहूँगा!' इसी के बरक्स अखिलेश के उपन्यास 'निर्वासन' का एक उद्धरण रखते हैं– 'दुर्गा मइया का आशीर्वाद है, मैं एक सौ नौ साल जीऊँगा।' कथा और संस्मरण के सत्य और गढ़न्त का द्वैताद्वैत यहाँ देखा जा सकता है।

रवीन्द्र कालिया वाले अध्याय में अखिलेश लिखते है कि किस प्रकार कृष्णा सोबती उन पर लिखे संस्मरण के 'तद्भव' में छपने के बाद नाराज हो गयी थीं और 'तद्भव' से सारा सम्बन्ध तोड़ लिया था। हालाँकि बाद में कृष्णा जी मान भी गयी थीं। तो जीवित व्यक्तियों पर संस्मरण लिखने के अपने खतरे हैं, अखिलेश यह खतरा भी उठाते हैं अपने मित्र सतत एंग्रीमैन वीरेन्द्र यादव पर पूरा एक अध्याय लिखकर। संस्मरण का कालखंड है नब्बे का दशक, यानी वह समय जिसमें उदारीकरण, साम्प्रदायिकता, दलित–अस्मिता; इन सबका उभार होता है। इस घटनापूर्ण समय में भारत के सबसे घटनापूर्ण क्षेत्र उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ में रह रहे वीरेन्द्र यादव और अखिलेश, अपने समय से कैसी मुठभेड़ करते हैं, यह इस अध्याय में देखा जा सकता है। वीरेन्द्र जी का आलोचक उनके कार्यकर्ता रूप से एक मैत्रीपूर्ण द्वन्द्व में हमेशा रहता है। संस्मरण के माध्यम से व्यक्ति के निजी वृत्त और उसके सार्वजनिक वृत्त के सम्बन्ध की पड़ताल की जा सकती है– इस अध्याय में हमें यह खूबी मिलती है।

मुद्राराक्षस और श्रीलाल शुक्ल हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। दोनों लखनऊ के बाशिन्दे और अखिलेश के वरिष्ठ मित्र। 'जय भीम लाल सलाम' और 'एक तरफ राग था सामने विराग था'– ये दोनों अध्याय इनसे सम्बद्ध हैं। अखिलेश अपने इन वरिष्ठों के जीवन के अन्यथा अनुद्घाटित पक्षों को सामने लाते हैं और उनके रचनाकर्म से उसका रिश्ता भी जोड़ते हैं। मुद्राजी के व्यक्तित्व का विविधवर्णी रूप एवं उनके कृतित्व का समयोचित विकास अथवा रूपान्तरण अखिलेश बखूबी कराते हैं। वीरेन्द्र यादव और मुद्राराक्षस के अनूठे रिश्ते तो व्यापक पाठक वर्ग के सामने अनुद्घाटित ही रह जाते यदि अखिलेश यहाँ उसका सरस उल्लेख न करते।

श्रीलाल शुक्ल वाले अध्याय के आरम्भ में ही अखिलेश कहते हैं– 'बहुत सारे लोगों की तरह श्रीलाल शुक्ल मेरे भी बहुत प्रिय लेखक हैं, लेकिन काफी पहले ऐसा नहीं था...' और बाद में अखिलेश ने जब अपनी पत्रिका 'तद्भव' निकाली तो उसका पहला अंक श्रीलाल शुक्ल पर केन्द्रित था। इस अनुराग की विकास–यात्रा का संगी–साथी है 'अक्स' का श्रीलाल शुक्ल पर केन्द्रित अध्याय

'एक तरफ राग था सामने विराग था'। मान बहादुर सिंह पर संस्मरण 'सूखे नाल मोरनी चिंहके' उनकी क्रूर हत्या के बाद लिखा गया है। उनकी हत्या से पूरा साहित्यिक जगत आहत था, अखिलेश के तो वे वरिष्ठ आत्मीय थे। अखिलेश उनके जीवन्त प्रसंगों को लिखते समय अन्तिम घटना की भनक तक नहीं लगने देते। मान बहादुर का देसी रचाव-बसाव और उनकी आधुनिक रचना विधान वाली कविताएँ ही पूरे अध्याय में छायी रहती हैं। जब हम अन्त तक पहुँचते हैं तब वह अघट उपस्थित हो जाता है। अखिलेश जिस सन्तुलन के साथ मान बहादुर प्रसंग लिखते हैं, वह सहज साध्य नहीं है। मान बहादुर सिंह के अन्तिम क्षणों का अंकन और आकलन अखिलेश ने जिस तरह किया, वह बहुत मार्मिक एवं बेचैन करने वाला है– 'उसने भरे बाजार सरे आम कस्बे के हजारों लोगों की मौजूदगी में लोक निर्माण विभाग के एक कोलतार वाले ड्रम पर अपनी गर्दन रखने के लिए मान बहादुर जी से कहा। उन्होंने रख दी, शायद उनको अभी भी मनुष्य जाति की करुणा और सदाशयता पर विश्वास था कि कोई उनका कत्ल क्यों करेगा! जैसे एक भयानक दु:स्वप्न देखा जा रहा हो, गड़ासे से ड्रम पर टिका सर धड़ से अलग कर दिया गया था।'

'अक्स' के संस्मरणात्मक अध्यायों के मध्य अखिलेश दार्शनिक मुद्रा में इतर प्रश्नों पर भी विचार करते हैं जो मूलत: एक सर्जक की चिन्ता से उपजे प्रश्न हैं। हम एक बार फिर कहना चाहेंगे कि यह अनूठा वृत्तान्त विधाओं की सीमाओं के विलोपन से जो आस्वाद पैदा करता है, वह अखिलेश के गद्य लेखन की शक्ति है।

मो. 8299202426

हिन्दी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ. अमरनाथ

हिन्दी आलोचना के इतिहास की अद्यतन पुस्तक

अरुण होता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन किया है। उनके परवर्ती साहित्येतिहासकारों ने शुक्ल जी का मार्ग अवलम्बन करने का प्रयास किया है। आज भी यह जारी है। साहित्य का विधागत इतिहास लेखन बहुत बाद में शुरू हुआ। 'आधुनिक कविता का इतिहास' (नन्दकिशोर नवल), गोपाल राय की 'हिन्दी कहानी का इतिहास' (तीन खंडों में) और 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' जैसी पुस्तकें तो इधर कुछ वर्षों में ही प्रकाशित हुई हैं। लेकिन हिन्दी आलोचना के इतिवृत्त से सम्बन्धित एक अद्यतन पुस्तक की कमी बहुत खल रही थी। हिन्दी के सुधी आलोचक और प्रतिष्ठित भाषाविद् डॉ. अमरनाथ की 'हिन्दी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास' पुस्तक सद्य: प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक आलोचना के इतिहास की अधुनातन पुस्तक के अभाव की पूर्ति करती है। इसके पहले काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पीएच-डी हिन्दी की उपाधि हेतु रामदरश मिश्र ने 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' शीर्षक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। यह पुस्तकाकार रूप में 1960 के आसपास प्रकाशित हुई भी थी। इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, डॉ नन्ददुलारे वाजपेयी आदि से लेकर रामविलास शर्मा तथा डॉ. सत्येन्द्र तक के आलोचना-कर्म का विवेचन है। यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि इसके पहले डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी की 'हिन्दी आलोचना', डॉ. रामचन्द्र तिवारी की 'हिन्दी आलोचना : शिखरों से साक्षात्कार', डॉ. निर्मला जैन की 'हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी' और 'हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ', मधुरेश और नन्दकिशोर नवल दोनों कथालोचकों की एक ही शीर्षक से प्रकाशित पुस्तकें 'हिन्दी आलोचना का विकास' आदि आलोचना-विधा पर केन्द्रित पुस्तकें उपलब्ध थीं। लेकिन, इन पुस्तकों में आलोचना के पारम्परिक सिद्धान्तों और कुछ प्रमुख आलोचकों के आलोचना-कर्म

और उनकी आलोचना-पद्धति की चर्चा मिलती है। नवल की पुस्तक में इसे कुछ अपडेट करने का प्रयास अवश्य हुआ था लेकिन इसमें 1980 के परवर्ती आलोचकों पर कोई विचार नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन पुस्तकों में आलोचना के उद्‌भव और विकास पर सर्वाधिक ध्यान केन्द्रित हुआ है जबकि 'हिन्दी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास' में उद्‌भव और विकास के साथ-साथ इतिहासबोध और ऐतिहासिक दृष्टि को आधार माना गया है। राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित छोटे फॉन्ट में 472 पृष्ठों की इस पुस्तक में भूमिका और प्रवेश के अतिरिक्त कुल इक्कीस सोपानों में हिन्दी आलोचना के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ग्रन्थ की तरह लगभग सभी आलोचकों के परिचय में एकरूपता पायी जाती है। प्रत्येक सोपान में पहले प्रवृत्तियों की चर्चा है अथवा उसके सिद्धान्त-पक्ष की विवेचना। इसके उपरान्त उक्त प्रवृत्तियों अथवा सिद्धान्तों के अन्तर्गत आने वाले लेखकों का मूल्यांकन किया गया है। मूल्यांकन का आधार आलोचना की कृतियाँ हैं। कविता, कथा, नाटक आदि की आलोचना अपेक्षाकृत सहज होती है। आलोचना की आलोचना करना थोड़ा अधिक कठिन होता है। डॉ. अमरनाथ ने इस कठिन कार्य को अपनी निष्ठा, लम्बी साधना और लगन से सम्भव किया है।

हिन्दी आलोचना के उद्‌भव के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रचलित रही है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस गद्य विधा का जन्म हुआ। अँग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' से हिन्दी आलोचना को जोड़कर उपर्युक्त मान्यता को अधिक पुष्ट करने का प्रयास किया जाता है। इस सन्दर्भ में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही कहा है– ''हिन्दी आलोचना पाश्चात्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई।'' डॉ. अमरनाथ का मानना है कि रचना के साथ ही आलोचना का विकास होता है। ऐसा नहीं है कि सदियों तक केवल रचनाएँ थीं और आलोचना अनुपस्थित। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर भारतेन्दु युग अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष तक अनेक ग्रन्थ रचे गये तो उन पर तमाम प्रतिक्रियाएँ भी अवश्य हुई होंगी। चाहे प्रशंसात्मक हों अथवा विश्लेषणमूलक।

हिन्दी आलोचना की विरासत को संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्वेषित करते हुए लेखक ने हिन्दी आलोचना को समझने, सहेजने और उसके स्वरूप से परिचित होने के लिए अत्यन्त आवश्यक माना है। संस्कृत की समृद्ध सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना पर विचार करते हुए लेखक ने सिद्ध किया है कि इनसे हिन्दी आलोचना के अनेक मानदंड निर्मित हुए हैं। उदाहरण के रूप में संस्कृत व्यावहारिक आलोचना की प्रमुख तीन पद्धतियाँ– व्याख्यात्मक अथवा टीका पद्धति, सूक्ति या आलोचनात्मक टिप्पणियाँ और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अपनी स्थापनाओं की पुष्टि में आचार्यों द्वारा उद्धृत कवियों की उक्तियाँ– हिन्दी आलोचना में भी लम्बे अरसे तक प्रभावी रही हैं। हिन्दी आलोचना को भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बन्धित करके डॉ. अमरनाथ ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। अगले ही सोपान में उक्त विरासत का विस्तार मध्यकालीन लक्षण-ग्रन्थों की रचना, टीका-पद्धति, सूक्तियों की परम्परा आदि के माध्यम से हिन्दी आलोचना का स्वरूप निर्धारित किया है।

इस पुस्तक में 'प्रवेश' के अन्तर्गत हिन्दी आलोचना का स्वरूप और उसकी प्रकृति की सामान्य चर्चा की गयी है। हिन्दी आलोचना की विरासत और विरासत का विस्तार, भारतेन्दु-द्विवेदी-छायावादी आलोचना, शास्त्रीय, व्याख्यात्मक, अनुसन्धानपरक आलोचना, पाठालोचन, प्रगतिवादी आलोचना, कथालोचना, नाट्यलोचना, शैली वैज्ञानिक आलोचना, उर्दू साहित्य आलोचना, अस्मितावादी आलोचना जैसे परिचित आलोचना के आधार पर भिन्न-भिन्न अध्याय अद्यतन सूचना एवं विश्लेषण के साथ प्रस्तुत हैं। पहली बार गाँधीवादी आलोचना, हिन्दुत्ववादी आलोचना, नयी आलोचना, मीडिया समीक्षा, लोकधर्मी काव्यालोचना, लोक साहित्य आलोचना आदि की आलोचना श्रेणियाँ निर्मित की गयी हैं बल्कि इन पर गम्भीर चिन्तन से पाठकों को रू-ब-रू कराने का प्रयास किया गया है। आलोचना को श्रेणियों में वर्गीकृत कर आलोचकों को उनके अन्तर्गत करना निश्चित रूप से अत्यन्त कठिन कार्य है। जैसे, किसी आलोचक के आलोचना-कर्म में कई श्रेणियों की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हों तो उस आलोचक को किस श्रेणी में स्थानित किया जाये? लेखक ने अपनी स्थापनाओं के आधार पर यह अध्यायीकरण किया है। किसी आलोचक को किसी एक श्रेणी के अन्तर्गत रखने के पीछे लेखक ने इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है कि उसकी आलोचना पद्धति की मूल प्रवृत्ति क्या है! इन श्रेणियों से गुजर कर लेखक के उद्‌देश्य को भली-भाँति समझा जा सकता है। पुनः मीडिया समीक्षा को भी लेखक ने आलोचना का हिस्सा बनाकर हिन्दी आलोचना के आयतन को विस्तार प्रदान किया है। मीडिया की असीमित शक्ति के दौर में कार्पोरेटी पूँजी के छद्‌म को समझे बिना मीडिया के असली

चरित्र को समझा नहीं जा सकता है। कहने का आशय यह है कि मीडिया समीक्षा के अन्तर्गत मीडिया की शक्ति और उसके स्वरूप, मायाजाल पर विचार करने के पश्चात प्रिंट तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, फिल्म एवं प्रमुख पत्रकार और सम्पादकों का सम्यक् विवेचन करने में लेखक को सफलता प्राप्त हुई है।

एक ओर हिन्दी आलोचना में पहली बार गाँधीवादी आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपों की सविस्तार चर्चा है तथा बीस-एक आलोचकों को इस श्रेणी में रखकर उनके आलोचनात्मक अवदान का रेखांकन है तो दूसरी ओर हिन्दुत्ववादी आलोचना की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करने के बाद इस श्रेणी के दो प्रमुख आलोचकों– कमल किशोर गोयनका और सदानन्द गुप्त की भूमिका का मूल्यांकन हुआ है। यह एक सोचने वाली बात है कि पिछले आठ-नौ वर्षों में लेखक-आलोचकों की एक लम्बी सूची अपने को हिन्दुत्ववाद का समर्थक सिद्ध करने में लगी हुई है तो उनकी आलोचनात्मक कृतियों में उसका प्रतिफलन क्यों नहीं हो रहा है! अगर प्रतिफलन हो रहा है तो हिन्दुत्ववादी आलोचकों की संख्या दो से अधिक बढ़ेगी। हिन्दुत्ववादी आलोचना का उल्लेख हो तो स्वाभाविक है कि पाठकों के मन में मुस्लिमवादी आलोचना के बारे में जिज्ञासा होगी। इस सम्बन्ध में स्वयं लेखक को उद्धृत करना अनुचित न होगा– ''सवाल उठ सकता है कि तब मुस्लिमवादी आलोचना क्यों नहीं। किन्तु मुझे मुस्लिमवाद के पैरोकार लेखक हिन्दी में क्या, उर्दू में भी नहीं मिले। आलोचना का आधार साहित्य होता है और हमें अपनी साहित्यिक विरासत पर गर्व है कि हमारे साहित्यकार कभी मजहबी संकीर्णता में नहीं फँसे।''

हिन्दी आलोचना के इतिहास में प्रगतिवादी आलोचना का सर्वाधिक महत्त्व है। इस धारा की आलोचना प्रकाशचन्द्र गुप्त से लेकर वैभव सिंह तक व्याप्त है। आकार की दृष्टि से यह सबसे बड़ा अध्याय है। इसी तरह दूसरा वृहद् अध्याय 'अस्मितावादी आलोचना : विखंडन और नये विमर्श' है। यह भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के समन्वय का सुन्दर उदाहरण है। इस अध्याय में दलित, स्त्री, आदिवासी साहित्य आलोचना के विविध पहलुओं पर तथ्यात्मक अनुशीलन किया गया है। इनके अलावा और भी नये विमर्श हैं, जैसे पर्यावरण, सत्ता, किसान, थर्ड जेंडर विमर्श आदि। इन विमर्शों पर भी सामान्य चर्चा अपेक्षित थी। उम्मीद है इसके अगले संस्करण में उपर्युक्त नये विमर्शों को शामिल किया जायेगा।

'नयी आलोचना' के अन्तर्गत अज्ञेय से लेकर राहुल सिंह तक शामिल हैं। लोकधर्मी काव्यालोचना और लोक-साहित्य आलोचना दो भिन्न सोपानों में विवेचित है जो न्याय-संगत भी है। पाठालोचन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए हिन्दी आलोचना में शामिल करके लेखक ने उल्लेखनीय कार्य किया है। स्पष्ट है कि बिना पाठालोचन के मध्यकालीन काव्य की समझ विकसित नहीं हो सकती है। इस पुस्तक में पाठालोचन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने वालों में 'रामचरितमानस' का पहला सम्पादित संस्करण (सन् 1868 ई) प्रकाशित करने वाले रामजस मिश्र से लेकर जगन्नाथदास रत्नाकर, मुनि जिनविजय, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, माताप्रसाद गुप्त, धीरेन्द्र वर्मा, नलिनविलोचन शर्मा आदि चालीस से अधिक पाठालोचकों का उल्लेख करते हुए लेखक ने दु:ख जताया है कि ''पाठालोचन का व्यावहारिक कार्य आज लगभग स्थगित-सा है।''

कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना के लगभग सभी रूपों का विवेचन-विश्लेषण इस पुस्तक में तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। भारतेन्दु-युगीन आलोचकों से लेकर युवा तथा नवान्न पीढ़ी में लगभग चार सौ से अधिक आलोचकों की पुस्तकों पर लेखक के विचार विद्यमान हैं। लगभग प्रत्येक अध्याय में कुछ ऐसे आलोचकों का उल्लेख मिलता है जो अन्य क्षेत्रों के लिए परिचित हैं लेकिन उन्होंने आलोचना में भी कुछ काम किया है। कुछ उभरते प्रतिभासम्पन्न नये आलोचकों का भी कम शब्दों में आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इनकी संख्या भी दो-तीन सौ से कम नहीं है। बेहतर होता कि इस पुस्तक में नामानुक्रमणिका दी गयी होती। इससे पाठक को पढ़ने में अधिक आसानी हुई होती। सच है कि आलोचना संसार की व्याप्ति इतनी अधिक हो रही है कि किसी अकेले साहित्येतिहासकार के लिए इतिहास-लेखन लगभग असम्भव है। बड़ी संख्या में तेजी से बढ़ते प्रकाशन गृहों और उतनी ही मात्रा में प्रकाशित पुस्तकों के प्रकाशन के चलते कुछ-न-कुछ छूट जाना, नजरअन्दाज हो जाना स्वाभाविक है। लेकिन वैसी पुस्तकों अथवा आलोचकों को महत्ता के अनुसार परवर्ती संस्करणों में शामिल किया जा सकता है। यह इसलिए कि साहित्येतिहास लेखन एक सतत प्रक्रिया है। निरन्तर अपडेट की माँग बनी रहती है। बहरहाल, इस असम्भव कार्य को, जहाँ तक हो सके, सम्भव बनाने में इस ग्रन्थकार ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। हाँ, हो सकता है कि कुछ मुद्दों पर सवाल खड़ा किया जाये कि कुछ आलोचक छूट क्यों गये हैं अथवा अमुक आलोचक को क्यों शामिल किया गया है, अमुक के लिए इतने वाक्य क्यों खर्चे गये, किसी आलोचक-विशेष पर विस्तार से क्यों नहीं लिखा गया है,

आईसेक्ट पब्लिकेशन

स्थानिकता का विश्वरंग

कथा भोपाल

(4 खंडों में)

प्रधान संपादक : **संतोष चौबे** संपादक : **मुकेश वर्मा**

शहर, उसका वातावरण, उसके पात्र कथा को एक स्थानिकता प्रदान करते हैं, घटनाएँ वायवीय न होकर स्वाभाविक नज़र आती हैं और शहर के साथ-साथ चलती मनोजगत की यात्रा आपको भीतर से समृद्ध करती चलती है। कथावस्तु अंतत: एक वैश्विक स्वरूप ग्रहण करती है। कहानी हमारे सामने उपस्थित यथार्थ का भाष्य करती है और एक विश्वसनीय संसार का निर्माण करती है, सॉमरसेट मॉम ने कहा भी है कि कहानी में लेखक 'सत्य' का चित्रण नहीं करता, वह जो चित्रण करता है, वह सत्य की तरह लगता है। स्थानिकता कहानी को वह आधार प्रदान करती है जो उसे विश्वसनीय बनाये। स्थानिकता से शुरू हुई यात्रा वैश्विकता पर समाप्त होती है।

इस यात्रा में मैं मुकेश वर्मा, महेंद्र गगन, बलराम गुमास्ता, कुणाल सिंह और ज्योति रघुवंशी जैसे अपने मित्रों से साथ चलने का अनुरोध करता हूँ। हम सब खुशी-खुशी इस यात्रा पर निकल पड़ते हैं, जिसे 'कथा मध्यप्रदेश' और 'कथादेश' के बाद अब 'कथा विश्व' तक जाना है। यह स्थानिकता का विश्वरंग होगा। इस यात्रा के तीसरे पड़ाव के रूप में 'कथा भोपाल' आपके सामने है।

- संतोष चौबे

मूल्य : 600 रु. (प्रत्येक खंड), सम्पूर्ण सेट के क्रय पर विशेष छूट देय

किसी आलोचक को किसी विशेष प्रवृत्ति में शामिल करने का सवाल, आदि। किसी श्रेणी विशेष में स्थानित आलोचकों को लेकर भी सवाल उठाया जा सकता है। युवा आलोचकों, उभरते आलोचकों को इतिहास में शामिल करना बड़ा जोखिम से भरपूर होता है। लेकिन, डॉ. अमरनाथ ने उपलब्ध सामग्री और तथ्यों के आधार पर तटस्थता के साथ वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए यह जोखिम उठाने का साहस किया है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना की विभिन्न पद्धतियों, हिन्दी आलोचना की दशा, दिशा और चुनौतियों को इतिहास-दृष्टि के साथ प्रस्तुत करनेवाली यह कृति वृहदाकार है और महत्त्वपूर्ण भी। आनेवाले दिनों में हिन्दी आलोचना पर विचार करते हुए इस कृति की चर्चा अवश्य होगी, ऐसा विश्वास है।

डॉ. अमरनाथ व्यावहारिक आलोचना की नयी शुरुआत भारतेन्दु युग से मानते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और 'प्रेमघन' पर सविस्तार चर्चा करते हुए हिन्दी आलोचना के विकास में भारतेन्दुयुगीन हिन्दी पत्रकारिता के महत्व का आकलन किया गया है। इस अध्याय में प्रताप नारायण मिश्र की विस्तारपूर्वक चर्चा का अभाव खलता है। द्विवेदीयुगीन आलोचना के स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दर दास तथा बाबू गुलाब राय के आलोचकीय व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन किया गया है।

डॉ. अमरनाथ ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह को शीर्ष आलोचकों के रूप में स्वीकार किया है। इन शीर्षस्थ आलोचकों पर अपेक्षाकृत लम्बा लिखा है जो न्यायसंगत प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में लेखक की स्थापना है कि शुक्ल जी वैज्ञानिक आलोचना-दृष्टि के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में लेखक की स्थापना उद्धृत है, जरूरी नहीं कि इससे आप सहमत हों। लेकिन पुस्तक में कई स्थलों पर लेखक की दृष्टि 'क्रिटिकल' रही है। ऐसा होना आलोचना के लिए स्वस्थ परम्परा माना जाता है। सम्भवतः इसलिए लेखक ने पुस्तक के शीर्षक में 'आलोचनात्मक' शब्द जोड़ा है। बहरहाल, डॉ. अमरनाथ की स्थापना को उन्हीं के शब्दों में समझने हेतु एक उद्धरण प्रस्तुत है– ''आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना के ऐसे आधार स्तम्भ हैं जिन पर परवर्ती प्रगतिशील आलोचना की पूरी इमारत निर्मित हुई है। परन्तु अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में जिस तरह उन्होंने उर्दू शैली की पूरी साहित्य परम्परा को बहिष्कृत किया, उससे एक ही हिन्दी क्षेत्र में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को विकसित होने में बल मिला। देश में बढ़ रही साम्प्रदायिकता से इसका गहरा ताल्लुक है।''

शास्त्रीय और व्याख्यात्मक आलोचना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवान दीन, कृष्णबिहारी मिश्र सहित तीन दर्जन आलोचकों के रचना-संसार का विवेचन किया गया है जो इसके पहले की आलोचनात्मक पुस्तकों में उपलब्ध नहीं था। निश्चित रूप से पुस्तक के इस सोपान से पाठक नये तथ्यों से समृद्ध तथा लाभान्वित होंगे। इस अध्याय में भी लेखक ने कई स्थलों पर आलोचकों के लेखन में निहित अन्तर्विरोधों का उद्घाटन करना नहीं भुलाया है।

जैसे कि उल्लेख किया गया है इस पुस्तक में केवल आलोचकों के सृजन-कर्म का मूल्यांकन नहीं हुआ है। किसी भी अध्याय में पहले तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों अथवा उक्त आलोचना पद्धति की विकास-यात्रा, उसके महत्व, वर्तमान दशा और दिशा आदि की चर्चा के उपरान्त उसके प्रमुख तथा अन्य आलोचकों के अवदान का उल्लेख किया गया है। लगभग सभी अध्यायों में इस 'पैटर्न' को अपनाया गया है। यह इस पुस्तक की एक उल्लेखनीय खूबी है। इससे छात्रों, शोधार्थियों और पाठकों की सम्बन्धित आलोचना पद्धति के बारे में स्पष्ट समझ विकसित होगी। एक पारदर्शी अवधारणा बनेगी। एक बात और है कि इस पुस्तक में भाषिक क्लिष्टता, दुरूहता और उलझाव का अभाव होने के चलते इसकी पठनीयता बनी रहती है। गम्भीर से गम्भीर विषय को सुबोध भाषा-शैली में प्रस्तुत करने की कला का अधिकारी है यह लेखक।

हिन्दी आलोचना के सन्दर्भ में बहुधा महज सात-आठ आलोचकों की चर्चा ही हुआ करती है। अन्य आलोचक 'इत्यादि' की कोटि में रह जाते हैं। इसे थोड़ा विस्तार देने का प्रयास भी हुआ है। लेकिन 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' से गुजर कर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह हिन्दी आलोचना का एक समेकित इतिहास है। इसके लेखक ने प्रारम्भिक आलोचकों से लेकर युवा आलोचकों के आलोचना-कर्म को उनके सामर्थ्य और सीमा के साथ प्रस्तुत किया है। पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि डॉ. अमरनाथ की 'हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली' शीर्षक पुस्तक की तरह यह पुस्तक भी छात्रों, शिक्षकों और हिन्दी-प्रेमियों की अत्यन्त प्रिय होगी। इसका खूब स्वागत होगा। हिन्दी आलोचना के अद्यतन इतिहास के व्यवस्थित और वैज्ञानिक लेखन हेतु लेखक को अभिनन्दन।

2 एफ, धर्मतल्ला रोड,
कस्बा, कोलकाता-700 042,
मो. 9434884339

वस्तुपरक

कथा का कहानी बन जाना, अमर हो जाना है। हर मनुष्य की यही तमन्ना होती है कि वह कहानी बन जाये और एक किरदार के रूप में अमर हो जाये। लैला और मजनूँ, रोमियो और जूलियट, लहना सिंह और सूबेदारनी ऐसे ही मनुष्य रहे होंगे, जो किरदार के रूप में अमर हो गये। कथा या कहानी मानव-सभ्यता की सबसे आदिम विधा है। तब से, जब से वह गीतों, कविताओं, स्मृतियों, आख्यानों, गप्पों आदि में तरह-तरह से व्यक्त-अभिव्यक्त होती रही है– वाचिक से लेकर लिखित तक। इस अर्थ में अगर यह कहा जाये कि अपने कहन में सभी कलाएँ आख्यानमूलक हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। आज भी दुनिया-भर में सबसे अधिक पाठक फिक्शन के ही हैं। उसमें भी उपन्यास के सर्वाधिक। हिन्दी में भी अगर आँकड़े जुटाये जायें तो उपन्यास ही सबसे अधिक पढ़ा जाता है। परन्तु, दुर्भाग्य से हिन्दी में कथा-संरचना अथवा उपन्यास-कला पर 'दि आर्ट ऑफ नॉवेल', 'आस्पेक्ट ऑफ नॉवेल' अथवा 'दि क्राफ्ट ऑफ नॉवेल' जैसी कोई एक किताब नहीं है। सुपरिचित आलोचक-सम्पादक ***विनोद तिवारी*** *के साथ 'वनमाली कथा' में इस स्तम्भ की शुरुआत हम इसी भरोसे के साथ कर रहे हैं कि कथा-संरचना और उसकी कला के सभी जरूरी पहलुओं पर किस्तों में विचार और बहस हो सके।*

प्लॉट का मोर्चा

मेरी गरदन पर अपना ही जाना-पहचाना चाकू

विनोद तिवारी

यह मत कहो– मुझे विषय दो
यह कहो– मुझे आँखें दो।
–रसूल हमजातोव

The novel tells A story, but the novel is not only A story.
-Orhan Pamuk

कहानी लिखना, क्या केवल विषय पा लेने और घटनात्मकता की कल्पना और रचना करते हुए उसे तरतीब में जोड़ देना-भर है? या इस विषय, घटनात्मकता, कल्पना, रचना और तरतीब के लिए किसी तरह के आधार, प्लॉट या कहें ठाट की जरूरत होती है? और अगर होती है तो कथा-रचना के लिए प्राथमिक और सबसे जरूरी चीज तो प्लॉट ही हुआ! कथा के छोटे-छोटे टुकड़ों, इकाइयों, खाँचों, साँचों, छापों (पैटर्न्स), कथोपकथनों (सब-प्लॉट), गोपन-अदृश्य चिह्नों और प्रतीकों, काव्यात्मक-क्षणों, निजी अनुभवों, सूचनाओं, तथ्यों, ब्यौरों, आदि का उपयोग किस तरह से किया जाय, इसकी योजना प्लॉट है। पर प्लॉट पर बात शुरू करने से पहले

विषय से ही बात शुरू हो तो ठीक। यह सच है कि विषय से लेखक नहीं पैदा हो सकता। विषय, लेखक के लिए एक ऐसी यात्रा का टिकट है, जिस पर गन्तव्य का उल्लेख नहीं है। इसलिए लेखक को चलते-चलते खुद ही तय करना होता है कि उसे कहाँ जाना है। रचना-यात्रा के दौरान उसे अपना गन्तव्य पाना होता है, नया गन्तव्य सृजित करना होता है। कई बार कुछ कथाकारों को लग सकता है कि वाह! मुझे तो एक यूनिक विषय मिल गया है, अब तो झंडा गाड़ दूँगा। लेकिन जब वह रचना तैयार होकर सार्वजनिक होती है, तो पता चलता है कि इस विषय पर तो अमुक रचना अथवा अमुक फिल्म मौजूद है। इससे ताकतवर फार्म में मौजूद है। विषय के कोरेपन अथवा नवता का तब तक कोई मोल नहीं जब तक उस नये और तथाकथित अछूते विषय को सृजित किस तरह किया जाता है, यह महत्त्वपूर्ण न हो। इसलिए अनेक लेखक स्वतन्त्र रूप से एक ही विषय पर काम कर सकते हैं। विषय एक हो सकता है, पर ऑथरशिप और 'फॉर्म' एक नहीं होते। रसूल हमजातोव ने ठीक ही लिखा है, ''साहित्य में सामूहिक फॉर्म नहीं हो सकता। हर लेखक का अपना खेत, जमीन का अपना टुकड़ा होता है, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो!'' मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण यह है कि वह जमीन के अपने टुकड़े को किस तरह से देखता है, उसकी दृष्टि में ही उस जमीन पर उगने व पकने वाली फसल का पता चल जाता है। जैसे यहाँ पर हम एक ही विषय को बरतने और देखने की दो दृष्टियों का तुलनात्मक उदाहरण देख सकते हैं। इन दोनों के आधार पर हम जीवन और मृत्यु के सम्बन्धों से व्यक्ति और समाज को देखने के नजरिये की पहचान कर सकते हैं–

1) रूसी और बाद में अमेरिकी उपन्यासकार, लोलिता जैसे विवादित किन्तु मशहूर उपन्यास के लेखक व्लादिमीर नोबोकोव एक कलाकार अथवा रचनाकार के लक्षण बताते हुए लिखते हैं– ''वह (कलाकार) उस आदमी की तरह होता है, जो मकान की नौवीं मंजिल से नीचे गिरता हुआ अचानक पहली मंजिल की एक दुकान का बोर्ड देखकर सोचता है, अरे! इसके तो हिज्जे गलत लिखे हैं। अगर किसी तरह यह मौत मुल्तवी हो जाती तो इसे सुधार सकता।''

2) दूसरा उदाहरण भी मृत्यु के आसन्न संकट से जुड़ा हुआ है। एक जैन कथा है, जिसका दृष्टान्त पौराणिक परम्पराओं में भी मिलता है। एक आदमी बाघ के आखेट से बचने के लिए भागते-भागते एक पेड़ पर चढ़ जाता है और मारे डर के उसकी ऊँची से ऊँची डाल के दूरतम छोर की ओर बढ़ता जाता है। उसके पीछे बाघ भी पेड़ पर चढ़ रहा है। आदमी के भार से अचानक डाल झुकती चली जाती है और नीचे एक कुएँ के मुहाने पर लटक जाती है। पहले ही मौत से डरा हुआ आदमी और भयभीत होकर कुएँ में झाँकता है– वहाँ साँप मुँह बाये जैसे उसका ही इन्तजार कर रहे हों। आगे कुआँ पीछे खाई वाली स्थिति है। मृत्यु के इस अनिवार संकट से बचने का कोई रास्ता अब उसे नहीं दिख रहा है। तभी वह व्यक्ति देखता है कि कुएँ की जगत से घास का एक डंठल उसकी ओर लटका पड़ा है। उसकी एक पत्ती पर शहद की एक बूँद अटकी हुई है। आसन्न मृत्यु को भूलकर, गर्दन को थोड़ा उचकाकर, जीभ निकालकर वह शहद की बूँद को चाट लेता है। आह! ऐसा स्वाद, ऐसी मिठास। जीवन सफल हुआ।

उपर्युक्त दोनों ही दृष्टान्तों में, मृत्यु के सम्बन्ध से जीवन के उद्देश्य को बताया गया है। पर दोनों के जीवन-उद्देश्य अलग-अलग हैं। एक के भीतर मरते-मरते भी गलत को सही करने की, सुधारने की चिन्ता है; जबकि दूसरे के लिए जीवन को, आखिरी बूँद तक, आस्वाद की तरह ग्रहण करना है। यह जीवन को बरतने, रचने की दो दृष्टियों का फर्क है। कहना न होगा कि जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण, जीवन-जगत के हमारे अनुभव और ज्ञान से निर्मित, संचालित और प्रभावित होते हैं। अत: हमारे लेखन में दृष्टिकोण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह हमारे लेखन को संचालित और प्रभावित करता है।

अत: लेखन से जुड़ा जरूरी सवाल यह है कि हम लिखते क्यों हैं? हमें क्यों लिखना चाहिए? एक सच्चा लेखक कभी न कभी अपने से यह सवाल पूछता ही है। अगर वह इससे बचना भी चाहे तो उससे पूछ लिया जाता है कि आप क्यों लिखते हैं? इसका एक साधारण-सा जवाब यह हो सकता है कि मेरे भीतर की बेचैनी मुझसे लिखवा लेती है। पर सवाल अभी भी वही है कि लिखते क्यों हैं? इस भीतर की बेचैनी का कारण क्या है? जो लोग केवल लेखक की भूमिका का निर्वाह करने के लिए लिखते हैं, शायद उनका जवाब हो सकता है कि लिखना अच्छा लगता है, इसलिए लिख लेते हैं। लेकिन सच्चा लेखक, केवल लेखक की भूमिका निभाने-भर के लिए नहीं लिखता, वह लेखक होने की जिम्मेदारी के साथ लेखन करता है। देश, समाज, व्यक्ति, जीवन, मृत्यु, प्रेम, वासना, नफरत, आग, राख, चोट, दर्द, करुणा, प्रतिशोध, घात, प्रतिघात, शिकायत, दर्द, छल, प्रपंच, अहं, दोहरेपन आदि-आदि के द्वारा न केवल अपनी मनोदशाओं, भावों और विकारों को बल्कि गोचर-अगोचर जीवन-जगत की हर शै को किसी न किसी रूप में एक विश्व-दृष्टि के साथ वह देखता, रचता है। इसलिए सच्चा लेखन हर बार जीवन-मरण के संघर्ष में उस आखिरी दाँव की

तरह है, जिसमें से जीवन सम्भव हो पाता है। लेकिन यह भी सम्भव है कि कई बार वह यह दाँव हार भी जाए। परन्तु, हार-हार कर भी अन्ततः लेखक जीवन को न सही, उसकी जिजीविषा की छाप (इम्प्रिंट) छोड़ जाता है। यही उसकी जीत है। इसलिए यदि लेखन का रिश्ता मात्र लिखते रहने-भर से है, तो वह उत्तर-आधुनिक फैशन या कहें कि भीतरी-बाहरी कौतूहल का पेट भरने से अधिक कुछ न होगा। वह न तो किसी तरह का 'टेक्स्ट' बन सकेगा और न ही उसका कोई 'टेक्स्चर' विकसित हो सकेगा।

बिना 'टेक्स्चर' के 'टेक्स्ट' का कोई महत्त्व नहीं। कथा-रचना के सिलसिले में इस टेक्सचर (ढाँचा) का रिश्ता प्लॉट के साथ चोली-दामन-सा होता है। प्रायः 'प्लॉट' को उसके हिन्दी अनुवाद 'कथानक' के जरिए समझा जाता है; जबकि कथानक 'प्लॉट' का ऑब्जेक्टिव है, पूरा प्लॉट नहीं। अपने व्यापक अर्थ में प्लॉट कहानी अथवा उपन्यास का ढाँचा या ठाट होता है। इस ठाट के ऊपर टेक्स्चर का ताना-बना। मुझे याद है कि गाँव में अभी जो हमारा पक्का घर है, पहले वह मिट्टी की भीत और खपरैल की छत वाला हुआ करता था। एक गाय थी, जिसके रहने के लिए हर तीन-चार साल पर छप्पर का छाजन तैयार किया जाता था। इसी गाय के खाने के लिए घर की जिस एक कोठरी में भूसा भरा जाता था, वह आज भी भुसौला के नाम से प्रसिद्ध है, भले ही आज उसमें भूसा नहीं रखा जाता। आज तो खपरैल और छप्पर के घर भी नहीं दिखते। हम सभी पक्के घरों के बाशिन्दे हैं। बहरहाल, मैंने जिस खास मकसद से यह बात उठाई, वह कथा का ठाट अथवा प्लॉट तैयार करने की प्रक्रिया को समझने के मकसद से। आप में से जिस किसी को भी छप्पर छाने की विधि और प्रक्रिया की जानकारी होगी, वे इसको ठीक से समझ सकेंगे। कथा-रचना की प्रविधि का इससे तालमेल बिठा सकेंगे। छप्पर छाने के लिए सबसे पहले बाँस, बाँस के चीरे हुए मोटे-पतले फट्टों की जरूरत होती है। इन फट्टों को ज्यामितीय विधि से परस्पर बाँधा जाता है। क्रॉफ्ट की दृष्टि से यह बॉडिंग कहानी की जान होती है। फट्टों के बीच समानुपातिक अन्तराल, फट्टे का कौन-सा तल ऊपर होगा कौन-सा नीचे, उसकी लचक किस तरह से बरकरार रहेगी, आदि का ध्यान रखा जाता है। जिस मूँज की (सरकंडे की पत्तियों से बनाई गयी) रस्सी से बाँधा जाता है, उसे पानी में पहले से ही कुछ देर तक भिगो कर रखा जाता है, जिससे वह मनचाही गाँठ दे सके, साथ ही हाथ को चीरने से भी बचाया जा सके। इसे कहानी या उपन्यास में घटनाओं, परिस्थितियों, चरित्रों, उनकी अवस्थाओं आदि में जो बिखराव, हल्कापन और भावात्मकता की तेज धार होती है, उसे पहले भिगो कर, गसा हुआ और सटीक पकड़ बनाने वाले बन्धन की तरह उपयोग में लाया जा सके, की तरह लिया जा सकता है। इस तरह से एक निखहर (खाली, उघड़ा हुआ) ठाट तैयार हो जाता है, जिसे हम प्लॉट कह रहे हैं। अब इसके ऊपर गन्ना के पत्तों, पतहर (सरकंडा अपने डंठल और पत्र सहित– पत्र का ही बिगड़ा हुआ रूप पतहर हो गया), फूस आदि का छाजन बिछाया जाता है। यह कई परतों का होता है। कथा, उपकथा, आख्यान, उपाख्यान की परतों का संयोजन जैसे उपन्यास में होता है। इसके बाद एक बार फिर से इन्हें सावधानी से उस ठाट के साथ बाँधा जाता है। यह ध्यान रखते हुए कि नीचे, जहाँ फट्टों का ज्वाइंट है, उसी के ऊपर यह बाँध भी हो। मतलब कि पहले वाले बन्धन के साथ ही यह बन्धन हो, जिससे छाजन को आधारभूत मजबूती मिल सके और बन्धन भी संयुक्त हो सकें। इसे केन्द्रीय कथावस्तु के साथ-साथ विषय-वस्तु को बाँधने की तरह समझ सकते हैं। फिर, अन्ततः इस छाजन के उभरे हुए या कहीं-कहीं उठे हुए हिस्सों को छाँट कर, पीट कर बराबर किया जाता है। इसे भी कथा में विचलन या बहकाव या भटकाव को काटने-छाँटने के अर्थ में समझा जा सकता है। पर, अभी छप्पर का प्रयोजन पूरा नहीं हुआ। अब इसे उठाकर उस केन्द्रीय आधार के दोनों तरफ लटकाया जाता है, जिसे बँड़ेर या बँड़ेरा या धरन (शहतीर) कहा जाता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि इसका निर्धारण, निर्माण और स्थापन पहले ही कर लिया जाता है। यह बँड़ेर ही वास्तव में कथानक होता है, कथा की रीढ़ होता है, जो पूरी ठाट और छाजन का भार धारण व वहन करता है, इसी लिए इसको 'धरन' भी कहा गया है।

लेकिन अभी भी अपने कम्पोजीशन में कहानी का प्लॉट अधूरा है। क्योंकि इस बँड़ेर से लटके हुए छप्पर के भार वहन करने में संगत के लिए थून्हियों (पिलर्स) का विशेष महत्त्व होता है। यह थून्हियाँ वे किरदार हैं जिनके बिना छप्पर अपने आकार-प्राकार, रूप-सौन्दर्य आदि के बावजूद टिकेगा नहीं, प्रवेश करने के लिए खुलेगा नहीं। जिस तरह से एक मकान अपने खम्भों (पिलर्स) के बिना नहीं टिका रह सकता, उसी तरह प्लॉट बिना पिलर्स के खड़ा नहीं किया जा सकता। वे पिलर्स ही हैं जो सहनीय-असहनीय हर तरह की स्थितियों-परिस्थितियों का वहन करते हैं। कथानक को भी टिकने और सोद्देश्य होने में सहायक होते हैं। अतः प्लॉट रचना एक मुकम्मल योजना है– वास्तु योजना। जिसे उपन्यासकार और आलोचक मिलान कुन्देरा 'आर्किटेक्टोनिक प्लान' (architectonic plan) कहते हैं। अगर इसकी योजना लचर

और कमजोर होगी तो रचना उसकी कमियाँ धीरे-धीरे बाहर आने लगेंगी। भवन के साथ फिर भी थोड़ी बहुत मरम्मत से काम चला लेने की गुंजाइश होगी पर रचना के बाहर आ जाने के बाद, उसके लिए तो यह गुंजाइश भी नहीं बचती। रचनाकार को पछतावा ही होता होगा। वह कुछ कर नहीं सकता। अगर वह कुछ कहने या करने की कोशिश करता भी है, जैसे कि मेरी रचना को ठीक से समझा नहीं गया, उसमें प्रयुक्त कथा-युक्ति को, उसकी रूपकात्मकता को, कथानक आदि को लोगों ने नहीं समझा, तो इसे उस कर्जदार की कोशिश मानना चाहिए जो निरस्त कर दिए गये अथवा चलन से बाहर कर दिए गये रुपयों से अपना कर्ज उतारने की कोशिश करता है। अत: कहना न होगा कि एक कथाकार को क्रॉफ्ट और आर्ट दोनों ही आना चाहिए। उसे एक साथ योजनाकार, इंजीनियर, गणितज्ञ, वास्तु-शिल्पी, मजदूर, संगतराश सभी होना पड़ता है। कहानी रचना के सम्बन्ध में एक हद तक यह लागू होता ही है, पर उपन्यास लेखन के लिए तो पूर्णत: लागू होता है।

प्लॉट जितना ही क्रमबद्ध, व्यवस्थित और सह-क्रियात्मक (synergetic) होगा उतना ही कथानक को मजबूती के साथ रचित कर सकेगा। इसलिए प्लॉट में कथानक केन्द्रीय होता है, पर इस केन्द्रीयता को उसकी मन्जिल तक सफलता पूर्वक पहुँचाने के लिए जो अन्य सहयोगी चालक शक्तियाँ होती हैं, उनकी आधारभूत संरचना अनिवार्य रूप से प्लॉट में अच्छे से नहीं तैयार कर ली जाती है, तब तक कहानी या उपन्यास अपने कथानक को पाठकों तक नहीं पहुँचा सकता। अत: प्लॉट को लेकर लेखक को बहुत सतर्कता बरतनी पड़ती है। इसके लिए वास्तु और शिल्प का कौशल तो जरूरी होता ही है। स्मृति और मति की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। स्मृति जहाँ व्यक्तिगत और जातीय अनुभव को पुनरुत्पादित और पुनर्रचित करती है वहीं मति या बुद्धिमत्ता उसे जीवन-दृष्टि के साथ तीक्ष्ण, संवेद्य, मर्मवेधी और सम्प्रेष्य बनाती है। नोबल सम्मान से सम्मानित प्रसिद्ध तुर्की उपन्यासकार ओरहान पामुक ने हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित चार्ल्स इलियट नॉर्टन व्याख्यानमाला में, उपन्यास पर दिए गये 6 व्याख्यानों में से एक व्याख्यान में, उपन्यास को त्रिविमीय (3D) संरचना बताते हुए कहते हैं– ''मेरे लिए उपन्यास लिखना हजारों-हजार अदृश्य बिन्दुओं को ऊपर-नीचे, आड़े-तिरछे, टेढ़े-मेढ़े मिलाते हुए एक लैंडस्केप तैयार करना है, न कि उन्हें सीधे सरल एकरेखीय ढँग से मिला देना।'' इसलिए उपन्यास लिखने/रचने का काम तिर्यक होता है और उपन्यास ही क्यों अपनी संरचना और कथ्य में हर रचना तिर्यक होती है।

इस समय हिन्दी लेखन में उपन्यास लेखन का स्वर्ण काल चल रहा है। कहा जा सकता है कि इससे बेहतर समय सम्भवत: उपन्यास के लिए फिर कभी नहीं आएगा। पर, इसका मूल्यांकन किया जाना जरूरी है कि क्या सचमुच में इन्हें उपन्यास माना जाए, या ये उपन्यास के नाम पर वृत्तान्त भर हैं? डिटेलिंग को किस्सागोई की कला में ढाल लेने का कौशल मात्र उपन्यास कहा जाएगा? दरअसल, जब तक उपन्यासकार 'रियलिस्टिक सिचुएशन्स' को 'फिक्शनल रियलिटी' की तरह रचते हुए उसे कथानक का अविभाज्य हिस्सा नहीं बना देता तब तक उपन्यास में समसामयिक घटनाओं, तात्कालिन स्थितियों-परिस्थितियों आदि का चित्रण तो मिलेगा परन्तु वास्तविक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के घात-प्रतिघात में बने-बिगड़े, दबे-कुचले, खाये-मोटाए, हारे-टूटे, लड़ते-बढ़ते व्यक्ति का यथार्थ और उसका प्रातिनिधिक चरित्र नहीं रचा जा सकता। जब तक हमारे-आपके बीच के मनुष्य का प्रातिनिधिक चरित्र के रूप में औपन्यासिक रूपान्तरण नहीं होता तब तक वह उपन्यास केवल 'कहानी'-भर है, अपने समय-समाज की नियति और चरित्र का महाकाव्यात्मक साक्षात्कार नहीं। कहना न होगा कि इधर हिन्दी के अधिकाँश उपन्यास लेखक 'कहानी' को ही उपन्यास मान बैठे हैं जबकि एक अच्छी कहानी खुद किसी औपन्यासिक विजन से कम नहीं होती। यह माना जाता है कि यथार्थवाद के बिना उपन्यास का काम नहीं चल सकता। पर कुछ रचनाकार इससे चिढ़ते भी हैं और इससे पीछा छुड़ाने का जतन भी करते हैं। यथार्थवाद को अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता, यह तो ठीक है, क्योंकि रूप-रचना, कम्पोजीशन, टेक्स्चर आदि के लिए अलंकरण की भी जरूरत होती है। यह अलंकरण किसी पात्र या चरित्र के

> बिना 'टेक्स्चर' के 'टेक्स्ट' का कोई महत्त्व नहीं। कथा-रचना के सिलसिले में इस टेक्सचर (ढाँचा) का रिश्ता प्लॉट के साथ चोली-दामन सा होता है। प्राय: 'प्लॉट' को उसके हिन्दी अनुवाद 'कथानक' के जरिए समझा जाता है; जबकि कथानक 'प्लॉट' का ऑब्जेक्टिव है, पूरा प्लॉट नहीं। अपने व्यापक अर्थ में प्लॉट कहानी अथवा उपन्यास का ढाँचा या ठाट होता है। इस ठाट के ऊपर टेक्स्चर का ताना-बना।

छवि वर्णन में (जैसे गुनाहों के देवता का नायक चन्दर के छवि-निर्माण में) घटनात्मक कल्पनाओं की बुनावट में, स्मृति को वर्तमान में ढाल लाने की कला (जैसा कि गीतांजलिश्री अपने उपन्यासों में करती हैं, रेत समाधि इसका सशक्त उदाहरण है) और कल्पना की प्रतीकात्मक प्रस्तुति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। परन्तु, जिन उपन्यासों में केवल अलंकरण ही प्रधान हो जाय उन्हें डायरी, निज-वृत्तान्त, काव्यात्मक-मुद्राओं और क्षणों (मूड्स) के विच्छिन्न थिलगे, खंडित अथवा स्नायुविक मनोदशाओं का आत्म-वृत्त या कुछ और कहना चाहिए, उपन्यास नहीं। उपन्यास के नाम पर हिन्दी में इस तरह की अनेक रचनाएँ हैं। जैसे कि 'चार-सम्वेदनाओं का अध्ययन' करने का दावा करता 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय), 'एक था शैलेंद्र' (राजेंद्र यादव), 'महुआ चरित' (काशीनाथ सिंह), 'काटना शमी का वृक्ष पद्मपँखुरी की धार से' (सुरेन्द्र वर्मा), 'आत्मदीप के प्रकाश में विहार' करते हुए प्रारूप-दर-प्रारूप 'पाँच प्रारूपों' में 'प्रत्येक वाक्य पर काम करने' के बाद लिखे उपन्यास 'वर्षावास' (अविनाश मिश्र), आदि के नाम ले सकते हैं। काव्यात्मकता उपन्यास के लिए चुनौती नहीं है। उपन्यास अपने असर में काव्यात्मक और पीढ़ी-दर-पीढ़ी कहे-सुने जाने में महाकाव्यात्मक होता है। राजेंद्र यादव ने अपने एक लेख 'भारतीय उपन्यास : असफलता के कुछ बिन्दु' में यह लिखा है कि 'कथा साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं से उतना नहीं होता, जितना उनमें उलझे नैतिक-मूल्यों और सांस्कृतिक संकट से होता है।' दरअसल, राजेन्द्र यादव जिस ओर इशारा कर रहे हैं, वह इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि केवल निजी और सामाजिक 'घटनात्मकता' का अलंकृत भाषा में आवेगमय सृजन ही अगर उपन्यास रचने का उपक्रम बनता जाएगा तो फिर यह सतह पर तैरने जैसा ही होगा। हकीकत में समाज के 'सांस्कृतिक संकट' की पहचान और सृजन का अभाव बना रहेगा। विक्रम सेठ उपन्यास की तुलना एक रूपक से करते हैं। 'बरगद का पेड़' वह रूपक है। बरगद का पेड़- उगना, बढ़ना, फैलना, पसरना फिर अपने आकाशी जड़ों के साथ जमीन कि ओर निरन्तर उन्मुख होते जाना। यह उन्मुखीकरण ही सामाजिक-परिवर्तनों को उनके मूल संकटों की शिनाख्त कराता है।

जब 'लौलिता' जैसे विवादित किन्तु मशहूर उपन्यास के लेखक व्लादिमीर नोबोकोव ने मशहूर उपन्यास 'मदाम बावेरी' (गुस्ताव फ्लाबेयर) के बारे में लिखते हुए यह कहा है कि- ''यह कितना बड़ा अन्याय होगा, यदि हम इस उपन्यास को केवल इस दृष्टि से पढ़ें कि उसमें लेखक ने बुर्जुआ वर्ग की निन्दा की है। हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि एक कलाकृति हरदम पर एक नयी दुनिया की रचना करती है, इसलिए किसी किताब को पढ़ते हुए हमें इस 'नयी दुनिया' को बहुत गहराई से देखना चाहिए, जिनका उन दुनियाओं से कोई नाता नहीं, जिनसे हम परिचित होते हैं। उपन्यास जिस नयी दुनिया को जन्म देता है, उसका अध्ययन करने के बाद ही हम उसका रिश्ता अपनी जानी-पहचानी दुनिया से जोड़ सकते हैं।''- तो साफ था कि नवता और प्रयोग के द्वारा घिसे-पिटे यथार्थ से निकलना होगा, लेकिन इस नवता और प्रयोग के नाम पर 'रेटॉरिक' और 'अलंकरण' उपन्यास नहीं है। किसी भी तरह का अच्छा लेखन अपने समय की छाया नहीं होता, वह समय का हमराह होता है, बल्कि साथ चलते-चलते, उससे आगे निकल जाता है और सफर का आयाम बदल जाता है। महान न भी कहें लेकिन हर महत्वपूर्ण रचना की यही कथा है। सार्वजनिक तथ्य-सत्य को जानते-पहचानते हुए भी, एक कथाकार को सबसे पहले समय की बद्ध इकहरी चेतना (रूटीन) से निकलकर, युगीन समस्याओं और सवालों के आलोक और सातत्य में नवता और प्रयोग को लाना होता है। इसे परिचित का अपरिचितीकरण कहते हैं। सृजन के लिए यह अनिवार्य होता है। अगर रचनाकार यह सम्भव कर पाता है तभी वह 'कॉमन-सेंस' से अलग होकर, आगे जाकर एक नए कथानक की रचना कर सकता है। क्योंकि 'कॉमन-सेंस' सपाट और एकरेखीय होता है। जबकि युगीन-बोध और उससे पैदा सवाल तिर्यक होते हैं। इसलिए एक कथाकार जब तक सुख, दु:ख, प्रेम, वासना, संघर्ष, जीत-हार आदि की अन्तर्दृष्टि नहीं रखेगा, उनके तिर्यक सम्बन्धों की समझ नहीं स्थापित करेगा, तब तक वह अपनी कहानी या उपन्यास के द्वारा पाठक के मन पर कोई छाप नहीं अंकित कर सकेगा। इसलिए कथाकार को प्लॉट की रचना करते हुए पीछे के अँधेरों और सामने की खाई का खयाल जरूर ही रखना पड़ता है। दरअसल, किसी भी विधा की रचना में केन्द्रीयता की तलाश इसी के सापेक्ष होती है। कथा में इसे 'कथानक' कहा जाता है। एक उदाहरण से इसे समझने की कोशिश की जाए। जैसे, पक्षियों का घोंसला होता है, वैसे ही दरिन्दों की माँद होती है। अगर एक लेखक इन पर लिखना चाहता है और वह पक्षियों के घोंसले और दरिन्दों की माँद को केवल उनके अवासन के अर्थ में ही देखता रचता है तो वर्णन के अलावा और कुछ नहीं दे पाएगा। लेकिन यदि वह इनमें रहने वाले प्राणियों की व्यवहार, आचरण, स्वभाव आदि के अन्तर के साथ उनकी प्रकृति का चित्रण करेगा तो यह जीवन-व्यवहार के साथ-साथ उस प्रकृति की पहचान होगी जो पक्षी और दरिन्दे के फर्क की दृष्टि होगी। यह

दृष्टि ही जीवन-जगत को देखने समझने की दृष्टि है।

जैसा कि कहा गया उपन्यास एक त्रिविमीय (3D) ठाट है। इसमें पहला आयाम, एक व्यक्ति होने के नाते, व्यक्तिगत अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है। यह व्यक्तिगत अनुभव, जिसे ज्ञान, दृष्टि, विचार जीवन-जगत के साथ सम्वाद और सम्वेदन के जरिए हम अर्जित करते हैं, वह पूरा का पूरा अन्तरित नहीं होता, बल्कि ठीक उसी समय वह छोटे-छोटे टुकड़ों, प्रभावों में व्यक्त होने की जल्दबाजी दिखाने लगता है। इसे जोड़ना, सम्बद्धता देना और विश्व-दृष्टि के सममित और संगति में ले आना दूसरा आयाम होता है। तब तीसरे आयाम की रचना सम्भव होती है, जिसमें जीवन की महत्ता और केंद्रीय अर्थवत्ता व्यक्त होती। इसे कुम्हार और चाक के रिश्ते से समझना प्रीतिकर होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया कि सबसे जरूरी होता है विषय का चयन, निर्धारण। यह पहले त्याग अर्थात क्या नहीं लेना है, उस पर निर्भर करता है। ठीक उसी तरह से कुम्हार सबसे पहले मिट्टी का चुनाव करता है। कोई भी मिट्टी वह नहीं चुन लेता। उसे पता है कि किसे छोड़ना है, किस मिट्टी को लेना है। यह अनुभव, ज्ञान और दृष्टि से सम्भव होता है। मिट्टी चयन के बाद असल काम शुरू होता है। सबसे पहले वह, इस मिट्टी को भूसा या लकड़ी का बुरादा, या इसी तरह के किसे अन्य पदार्थ के साथ पानी मिलाकर उस स्तर तक सानता है, जिस स्तर पर उसमें नम्यता या लोच (इलास्टीसिटी) पा ली जाये। इसके बाद बारी आती है उसे चाक पर चढ़ाने की। यहाँ, कुम्हार का हुनर, शऊर और दृष्टि तीनों का तालमेल जरूरी होता है। चाक पर चढ़ाने के साथ ही वह अपने मन-मुताबिक कुल्हड़, मटके, गुल्लक, गमले आदि बना सकता है। बहुत बार बाजार की तात्कालिक माँग और आपूर्ति के नियम से इन्हें तैयार किया जाता है। यह रचना का या कहना चाहें तो कह सकते हैं, कला का दूसरा चक्र है। रचना अभी कच्ची है। क्योंकि चाक से उतरते ही ये कच्चे मिट्टी के बर्तन उपयोग के लायक नहीं हो जाते हैं। इनका इंतजार आवाँ (दहन-भट्ठी) कर रहा होता है। जिनमें इनको तपना पड़ता है। तप कर सुर्ख होना पड़ता है। इस प्रक्रिया में आप देखें तो कई बार कोई मटका, कोई गुल्लक किसी जगह से झुलस कर काला पड़ जाता है। जब हम खरीदने जाते हैं तो, ठोंक-बजाकर, देखकर लेते हैं। और झुलस हुए को या काला पड़ गए भांड को लेने से बचते हैं। वस्तु के साथ रूप का महत्व यहाँ प्रत्यक्ष होता है। जो कुशल कुम्हार होता है, उसे पता होता है कि आवाँ में बर्तनों को किस आँच पर, कितने तापमान में डालना चाहिए। जो अनाड़ी रचनाकार होते हैं, उनसे अक्सर यह सन्तुलन नहीं सध पाता और रचना खराब हो जाती है। कभी अत्यधिक भावुकता की आँच में झुलस जाती है तो कभी अधिक कल्पना और आदर्श की आँच में तो कभी इकहरे यथार्थ की आँच में। प्लॉट के बहु-स्तरीय साँचे-ढाँचे की तैयारी के सम्बन्ध में इसे बहुत गहराई के साथ समझना और बरतना पड़ता है। वस्तु और रूप का सौन्दर्य तभी मुकम्मल हो सकता है। वस्तुगत यथार्थ और रूपगत अलंकरण के सम्बन्ध में भी इस उदाहरण को रख कर देखा समझा जा सकता है।

यह सच है कि बिना विषय के कहानी नहीं होगी और बिना कहानी के प्लॉट नहीं होगा। लेकिन कहानी प्लॉट नहीं है। कहानी के भीतर कथोपकथन के सहारे घटनात्मकता का कालक्रमिक या क्रमबद्ध (या कई बार इसमें तोड़-फोड़ करके भी) विकास होता है। पर यह भी प्लॉट नहीं है। प्लॉट कथोपकथन में नहीं, उसको बुनने वाली घटनात्मकता में भी नहीं, बल्कि प्लॉट उस घटनात्मकता की कारणता और उसके अन्तर्निहित तत्वों से संरचित होता है। इसको विस्तार से ई.एम. फार्स्टर ने अपनी पुस्तक 'ऑसपेक्ट ऑफ दि नॉवेल' में व्याख्यायित किया है। मिसाल के तौर पर, ''राजा की मौत हो गयी। थोड़े समय के बाद रानी की भी मौत हो गयी।''– यह कहानी है। जबकि, ''राजा की मौत हो गयी। थोड़े समय बाद दुःख के मारे, रानी की भी मौत हो गयी।''– यह प्लॉट है। प्लॉट में कारणता पर बल होता है। प्रसिद्ध हिन्दी कहानी 'उसने कहा था' का उदाहरण ले सकते हैं। अमृतसर में चौक की एक दुकान पर किशोरवय की एक लड़की और लड़का मिलते हैं। लड़का अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया है

यह सच है कि बिना विषय के कहानी नहीं होगी और बिना कहानी के प्लॉट नहीं होगा। लेकिन कहानी प्लॉट नहीं है। कहानी के भीतर कथोपकथन के सहारे घटनात्मकता का कालक्रमिक या क्रमबद्ध (या कई बार इसमें तोड़-फोड़ करके भी) विकास होता है। पर यह भी प्लॉट नहीं है। प्लॉट कथोपकथन में नहीं, उसको बुनने वाली घटनात्मकता में भी नहीं, बल्कि प्लॉट उस घटनात्मकता की कारणता और उसके अन्तर्निहित तत्वों से संरचित होता है।

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

शीघ्र प्रकाश्य

शैलेन्द्र सागर

की कहानी

दम्पती

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

और लड़की रसोई के लिए बड़ियाँ। बातों-बातों में सामान्य परिचय होता है। दोनों दुकान से सामान लेकर चल देते हैं। कुछ दूर जाकर लड़का मुस्कुरा कर पूछता है– ''तेरी कुड़मायी हो गयी? इस पर लड़की आँखें तरेरकर धत्त कह कर भाग जाती है। लड़का मुँह देखता रह जाता है। दूसरे दिन, तीसरे दिन, सब्जी वाले के यहाँ, दूध वाले के यहाँ दोनों अकस्मात मिलते रहते हैं। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा– तेरी कुड़मायी हो गयी है? और उत्तर में वही धत्त।'' यहाँ तक कहानी है। पर आगे जो होता है, वह प्लॉट है, जिस पर पूरी कहानी आगे अर्थ प्राप्त करती है। ''एक दिन फिर लड़के ने उसी तरह हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा, तेरी कुड़मायी हो गई? लड़की, लड़के की सम्भवना के विरुद्ध बोली– ''हाँ, हो गयी। देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ शाल...। लड़की कह कर भाग गयी।'' लड़के ने घर की सीध ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में धकेल दिया, एक छाबड़ी वाले ने दिन भर की कमाई खोई। एक कुत्ते को पत्थर मारा और गोभी के ठेले में दूध उँड़ेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अँधे की उपाधि पायी, तब कहीं घर पहुँचा। तेजी से घटित होने वाली इन घटनाओं की कारणता पाठक ढूँढ़ लेता है। अगर नहीं ढूँढ़ पाता है तो, पाठक के साथ-साथ कुछ कथा आलोचकों को भी यह कहानी प्रेम कहानी नहीं, कुछ और ही लग सकती है। जबकि कथानक की केन्द्रीय धुरी यही है। तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में लड़की की शादी होनी ही है, तो हो गयी। वह सूबेदारनी बन गयी, लेकिन लड़का सेना में जमादार लहना सिंह बनकर आजीवन अविवाहित रहने का फैसला ले सकता है, उसने लिया। और अपने प्यार के प्रति प्रतिबद्ध व आगे चल कर उसी कारणता के चलते वचनबद्ध होने के नाते वह अपना बलिदान देता है। इसी तरह से कुछ आलोचक रेणु की 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' को प्रेम नहीं केवल वासना की कहानी के रूप में पढ़ते हैं।

प्लॉट की रचना करते हुए एक अच्छे कहानीकार या उपन्यासकार को पता होता है कि कहानी अथवा उपन्यास की अदृश्य केन्द्रीयता (दि सेक्रेट सेन्टर) का सृजन कैसे किया जाए। अत: जिसे कथानक कहा जाता है, वह सतह से बहुत दूर होता है। वह, पृष्ठभूमि में कहीं हो सकता है, घटनात्मकता की संगति और उसकी कारणता में हो सकता है, कथाओं, उपकथाओं के चिलमन में हो सकता है, प्रतीकात्मक संकेतों में छिपा हो सकता है– खूब पर्दा है कि चिलमन से लगे बैठे हैं/साफ छुपते भी नहीं सामने आते भी नहीं। इसलिए उसे खोजने, देखने की नजर दूसरी होगी, अलग होगी। नोबल सम्मान से सम्मानित अरबी भाषा के कथाकार नजीब महफूज की एक छोटी सी कहानी है– मोती। जितेंद्र भाटिया ने हिन्दी में इसका बहुत ही सुन्दर अनुवाद किया है। तो किस्सा यूँ है कि कथावाचक एक दिन एक सपना देखता है– ''किसी ने मेरे सपने में आकर मेरी ओर हाथी दाँत का एक डिब्बा बढ़ते हुए कहा, ''इस तोहफे को कबूल करो।'' जब मैं उठा तो डिब्बा मेरे तकिये पर रखा था। जुनून की हालत में मैंने डिब्बे को खोला और पाया कि उसमें अखरोट के आकार का एक बड़ा-सा मोती है। समय-समय पर मैं उसे किसी मित्र या विशेषज्ञ को दिखला कर पूछता, ''इस लाजवाब मोती के बारे में आपका क्या खयाल है?'' वह आदमी अपना सिर हिलाता और फिर हँसते हुए कहता, ''कौन-सा मोती? यह डिब्बा तो बिलकुल खाली है।'' इसलिए सतही या ऊपरी तौर पर असल चीज नहीं होती। उसको देखने पाने की नजर और होगी। असल में, एक रचनाकार अपने पाठक और आलोचक से इस जुदा और जिन्दा नजर की ही ख्वाहिश रखता है। पर, डिब्बे में मोती तो होनी ही चाहिए।

मो. 9560236569

अनुवाद
परिदृश्य और चुनौतियाँ

श्रीविलास सिंह

अनुवाद का कार्य न केवल हमें अपनी भाषा से इतर दुनिया-भर की भाषाओं में रचे गये श्रेष्ठ साहित्य से परिचित कराता है, वरन् यह हमारे लिए नयी संस्कृतियों और विचारों तथा भाव-सम्पदा की ओर एक खिड़की खोलने का काम भी करता है। यह न केवल दुनिया के सुदूर कोनों में रह रहे लोगों के सुख-दुःख, पीड़ा-सन्त्रास, उनकी सचाइयों और स्वप्नों से हमें परिचित कराता है, बल्कि हमारी संवेदना को भी सम्पृक्त और परिष्कृत करता है। निश्चित रूप से इससे हमारा साहित्य कुछ और समृद्ध होता है। अनुवाद द्वारा ही हम दुनिया के तमाम महान साहित्यकारों के साहित्य से परिचित हो पाये हैं।

अनुवाद की यही विशेषता इसे किसी भाषा के लिए न केवल महत्त्वपूर्ण, बल्कि आवश्यक भी बनाती है। हिन्दी भाषा में भी समय-समय पर दुनिया की अन्य भाषाओं की कविताओं, कहानियों और उपन्यासों के अनुवाद होते रहे हैं। साथ ही हिन्दी में रचे गये बेहतरीन साहित्य का अन्य भारतीय भाषाओं-सहित दुनिया की तमाम भाषाओं में अनुवाद होता रहा है। किन्तु अनुवाद का यह परिदृश्य पूर्णतः सुखद नहीं है। इस क्षेत्र में कुछ समस्याएँ, कुछ चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। यहाँ हम उन्हीं के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

गद्य की तुलना में कविता का अनुवाद कठिन होता है क्योंकि कविता में भाषा की अनेक अर्थ-छवियाँ उपस्थित होती हैं। अर्थ और भाव के अनेक स्तरों पर एक कविता को समझा और ग्रहण किया जा सकता है। जबकि साहित्य की अन्य विधाओं में भाषा की अर्थ-अन्विति, सीधी और स्पष्ट होती है, कविता में सदैव ऐसा नहीं होता। कई बार कविता अलग-अलग पाठकों के लिए अलग अर्थ-व्यंजना प्रस्तुत करती है। भाव और अर्थ के अनेक स्तर एक ही कविता में उपस्थित हो सकते हैं। जैसे एक नदी का तीव्र वेग किसी के लिए भयोत्पादक हो सकता है तो दूसरे के लिए आनन्दप्रद, उसी भाँति एक कविता अलग-अलग पाठक को अलग-अलग तरीके से प्रभावित कर सकती है।

कविता अत्यन्त कम शब्दों में और अत्यन्त सघन प्रारूप में अपने भीतर भावनाओं और अर्थों की अनेक परतें समेटे होती है। नतीजतन अनुवादक के समक्ष इन परतों को अधिक से अधिक

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

शीघ्र प्रकाश्य

राजेन्द्र लहरिया

की कहानी

दृश्य-अदृश्य

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

उघाड़ पाने की भावगत और भाषागत चुनौतियाँ होती हैं। जो अनुवादक जितना अधिक इन तहों में जा पाता है, उसका अनुवाद उतना ही बेहतर होता है।

कविता के अनुवाद में जहाँ अर्थगत सम्प्रेषणीयता की आवश्यकता होती है, वहीं शैलीगत शुद्धता और पाठक पर होने वाले भावनात्मक प्रभाव का भी बहुत महत्त्व होता है। न केवल एक भाषा के मुहावरों, रूपकों, उपमाओं और अन्य अलंकारों का दूसरी भाषा में अनुवाद कठिन कार्य होता है, बल्कि दो भिन्न भाषी समाजों के बीच के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक सन्दर्भों और मान्यताओं को पूरी तरह लक्ष्य भाषा में अनूदित कर पाना अनुवादकों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती का कार्य होता है। कविता की संरचनात्मक विशेषता जैसे छन्द, तुक और लय का भी प्रभाव अनुवाद की गुणवत्ता पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त कई बार अनुवादक की व्यक्तिगत पसन्द और विचार भी अनुवाद को प्रभावित कर देते हैं। अच्छे अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनुवादक कवि के देश, समाज की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भी यथासम्भव जानकारी अर्जित करें।

इससे कविता में प्रयुक्त रूपकों और उपमाओं तथा राजनैतिक, ऐतिहासिक सन्दर्भों को समझने और उनको अनुवाद में सही परिप्रेक्ष्य में प्रयोग करने में मदद मिलती है। इस सम्बन्ध में रॉय हैरिस का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि घटिया अनुवाद अक्षम अनुवादक की कमी है, न कि अनुवादकीय उद्यम की निहित अनुपलब्धता का परिणाम। अनुवाद की कला वस्तुतः इस कठिनाई से कुशलतापूर्वक पार पाने की कला है जो इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि सभी भाषाओं के पास सभी प्रकार के उपकरण नहीं हैं।

अनुवादक के लिए यह भी ध्यान रखने की बात होती है कि अनुवाद एक यान्त्रिक क्रिया-मात्र नहीं है। डेविड कॉनली के शब्दों में कहें तो ''अनुवाद सामान्यतः एक विज्ञान और एक शिल्प हो सकता है, किन्तु कविता का अनुवाद रचनात्मक लेखन (अथवा रचनात्मक पुनर्लेखन) का भी कार्य है और इसके लिए कला, प्रतिभा और प्रेरणा की आवश्यकता होती है। यह इन्हीं तत्त्वों का समुच्चय है जो स्पष्ट करता है कि क्यों एक कविता का अनुवाद कभी पूरा नहीं होता और अनुवादक को क्यों अन्ततः किसी बिन्दु पर रुक जाना पड़ता है।'' इस रचनात्मक लेखन अथवा पुनर्लेखन हेतु अनुवादक पर अतिरिक्त जिम्मेदारी आ जाती है और उसे सदैव इस बात के प्रति सचेत रहना होता है कि अनुवाद केवल उसका भाषान्तरण-मात्र न हो कर, लक्ष्य भाषा में सृजित एक नयी रचना ही हो।

निश्चय ही अनुवाद के बाद की रचना सामान्यतः मूल रचना जितनी प्रभावशाली नहीं हो सकती, किन्तु वह भावाभिव्यक्ति और संरचना में जितना अधिक मूल रचना के निकट होगी, अनुवादक का कार्य उतना ही सफल माना जायेगा। हिन्दी में शुरुआत से ही अनुवाद की एक समृद्ध परम्परा रही है। पिछली पीढ़ी के लोगों को टॉलस्टॉय, चेखव से लेकर सरवेंटीस तक के अनुवाद अवश्य ही स्मरण होंगे। विभिन्न भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनूदित साहित्य के कारण ही हम तमिल, कन्नड़, मलयालम, मराठी इत्यादि भाषाओं के महान साहित्यकारों के साहित्य से परिचित हो पाये। वर्तमान में भी अनेक अनुवादक अपने काम से हिन्दी साहित्य को निरन्तर समृद्ध कर रहे हैं। लेकिन इन सब बातों के बावजूद यह तथ्य रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि अभी भी जो काम हुआ है, वह बहुत कम है और अभी इस क्षेत्र में बहुत कुछ किया जाना अपेक्षित है। यह बात सिर्फ विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्य के सन्दर्भ में ही लागू नहीं होती, वरन् भारतीय भाषाओं के साहित्य के सम्बन्ध में भी सच है। साथ ही हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्य को भी अन्य तमाम भाषाओं में अनूदित किये जाने की आवश्यकता

है। इस क्षेत्र में काम होने के बावजूद अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है।

अच्छे अनुवादकों की कमी, अन्य भाषाओं से अनुवाद के क्षेत्र में सबसे पहली और सबसे बड़ी बाधा है। बहुत बार अनुवाद इतने अधिक यान्त्रिक और बेजान होते हैं कि उनका साहित्य के रूप में आस्वादन तो दूर की बात, उन्हें पढ़ कर ठीक से समझ पाना भी मुश्किल होता है। यह स्थिति अच्छे अनुवादकों और अच्छे सम्पादकों की कमी के कारण है। इस स्थिति का एक कारण सम्पादकों और समीक्षकों द्वारा बरती जाने वाली ठकुरसुहाती की नीति भी है। किसी कृति के सम्बन्ध में स्पष्ट और खरी राय न देने और कमियों की ओर ईमानदारी से इंगित न करने की समीक्षकों और सम्पादकों की प्रवृत्ति अन्ततः रचनाओं की गुणवत्ता को ही प्रभावित करती है। इस स्थिति से उबरने की आवश्यकता है। अनुवादकों और साहित्यकारों को भी अपनी रचनात्मक आलोचना का खुले हृदय से स्वागत करना चाहिए। यह अच्छे अनुवाद की दिशा में एक मजबूत कदम होगा। एक अच्छे अनुवादक को न केवल मूल भाषा और लक्ष्य भाषा पर पर्याप्त अधिकार होना चाहिए, बल्कि उसमें साहित्य की समझ और संवेदनशीलता भी होनी चाहिए। कविता के अनुवाद के सम्बन्ध में यह बात और आवश्यक हो जाती है।

जिस तरह आप किसी भाषा के अच्छे जानकार होने के कारण-मात्र से उस भाषा के अच्छे साहित्यकार नहीं हो सकते, उसी तरह मात्र भाषा-ज्ञान के कारण अच्छे अनुवादक भी नहीं हो सकते। बहुत से अनुवादों में जो यान्त्रिकता, जो अपठनीयता हम देखते हैं, वह बहुत हद तक साहित्य की समझ की इसी कमी के कारण है। गूगल इत्यादि यान्त्रिक अनुवाद उपकरणों ने यद्यपि सामान्य उपयोग के लिए अनुवाद के काम को आसान किया है, लेकिन साहित्य का अनुवाद अभी भी अनुवादक की योग्यता और भाव-बोध पर निर्भर है। दुर्भाग्य से हिन्दी में ऐसे अनुवादक जिन्हें भाषा-ज्ञान के साथ ही साहित्य की भी अच्छी समझ हो और जिनके अनुवाद में मूल रचना-सा आस्वाद मिल सके, गिनती के ही हैं।

अच्छे अनुवादकों की कमी का एक कारण अनुवादकों को उचित सम्मान न मिलना भी है। इस स्थिति को गीतांजलि श्री के उपन्यास 'रेत समाधि' को मिले बुकर पुरस्कार की आधी धनराशि अनुवादक डेजी रॉकवेल को दिये जाने पर अपने देश में कुछ लोगों की प्रतिक्रिया से देखा-समझा जा सकता है। इसी कारण अच्छे लोग इस क्षेत्र में आने से हिचकिचाते हैं। अधिकांश अच्छे अनुवादक यह काम स्वान्तः सुखाय ही कर रहे हैं। यह दुःखद है कि हिन्दी में अनुवादक को वह सम्मान नहीं मिलता जो अन्य साहित्यकारों को मिलता है। उसे किसी लिपिक की तरह का, दोयम दर्जे का समझा जाता है, जबकि वह हमें विश्व के श्रेष्ठ साहित्य से परिचित करा रहा होता है। यदि अनुवादक न होते तो हम दुनिया के अधिकांश महान साहित्य से परिचित होने से वंचित रह जाते। पहचान और सम्मान की इस कमी से अधिकांश लोग अनुवाद-जैसे श्रमसाध्य काम से दूर ही रहना चाहते हैं।

अनुवादकों के समक्ष संसाधनों की कमी की भी समस्याएँ हैं। यों भी हमारे देश में और विशेषतः हिन्दी के क्षेत्र में साहित्य लेखन पूर्णकालिक कार्य के रूप में अपनाये जाने की स्थिति में नहीं है। लेखन से जीविकोपार्जन की बात दिवास्वप्न से अधिक कुछ नहीं है। यही स्थिति अनुवाद की भी है। यद्यपि पाठ्यपुस्तकों और सन्दर्भ-ग्रन्थों के रूप में पढ़ी जाने वाली पुस्तकों के अनुवाद आर्थिक रूप से कुछ बेहतर स्थिति में हैं, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में स्थिति अत्यन्त निराशाजनक है। साहित्य अकादमी-जैसी कुछ सरकारी संस्थाएँ अवश्य ही अनुवाद कार्य के लिए कुछ भुगतान करती हैं, अन्यथा यह कार्य स्वान्तः सुखाय ही है। इसके अतिरिक्त अनुवादकों को संस्थागत समर्थन का अभाव है। हिन्दी साहित्य में पुस्तक प्रकाशन की जो अर्थिकी है, वह अक्सर इस बात की अनुमति नहीं देती कि अन्य भाषाओं के समकालीन लेखकों की पुस्तकों का अनुवाद कॉपीराइट-सम्बन्धी अनुमति इत्यादि ले कर किया जाये। अधिकांश पुस्तकों के हजार-पाँच सौ प्रतियों के संस्करण प्रकाशित होते हैं। ऐसे में किसी विदेशी लेखक को अथवा प्रकाशक को भुगतान करके अनुवाद की अनुमति प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है। हिन्दी के प्रकाशक भी इस सम्बन्ध में बहुत कम सहयोग करते हैं। इस सबका परिणाम यह रहा है कि हिन्दी में अधिकांशतः या तो वह साहित्य अनूदित होता है जो कॉपीराइट से मुक्त हो चुका है अथवा जो बिना अनुमति के अनूदित किया गया है। यह प्रवृत्ति अनुवाद के लिए बहुत उत्साहवर्धक नहीं है।

हिन्दी में अधिकांश अनुवाद कार्य फ्रीलांसर्स द्वारा किया जाता है। अनुवाद-सम्बन्धी अनुमति हेतु मूल लेखक, प्रकाशक सदैव अनूदित सामग्री के प्रकाशन-सम्बन्धी विवरण जैसे प्रकाशित होने वाली प्रतियों की संख्या, वितरण का भौगोलिक क्षेत्र, एक प्रति का मूल्य इत्यादि जानना चाहते हैं। किन्तु यह तभी सम्भव है जब अनुवाद किसी प्रकाशक की पूर्व निर्धारित परियोजना के अन्तर्गत किया जाये। मेरी जानकारी में ऐसा सपोर्ट सिस्टम नहीं है जो इन कार्यों को आसान बनाये और लेखक-अनुवादक निश्चिन्त हो कर बस अपना काम कर सकें। इस सांस्थानिक सहायता की व्यवस्था के अभाव में अनुवाद से लेकर प्रकाशक

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

शीघ्र प्रकाश्य

पराग माँदले

की लम्बी कहानी

वस्ल की कोख में खिलता है

फूल हिज्र का

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

और वितरक सबकी खोज लेखक को स्वयं करनी पड़ती है।

हिन्दी में हो रहे अनुवाद के परिदृश्य पर नजर डालें तो एक और विशेषता दिखायी पड़ेगी। अधिकांश अनुवाद यूरोप, अमेरिका और लैटिन अमेरिका की कुछ खास भाषाओं के साहित्य का ही हुआ है। निश्चय ही अपवाद हैं लेकिन एशिया और अफ्रीका के अधिकांश साहित्य से हम अभी भी अनभिज्ञ ही हैं। इस सम्बन्ध में जहाँ इन क्षेत्रों की विभिन्न भाषाओं के जानकारों की कमी है, वहीं इन इलाकों के साहित्य का अँग्रेजी में कम अनूदित होना भी इनके कम अनुवाद का कारण है। दुनिया के बहुत सारे साहित्य का हिन्दी में अनुवाद उनके अँग्रेजी अनुवाद के आधार पर हुआ है। अनुवाद, विशेषत: साहित्य के अनुवाद के काम का आर्थिक रूप से लाभदायक न होना भी भविष्य के अनुवादकों को कुछ खास भाषाओं को छोड़ कर अन्य भाषाओं की ओर आकर्षित होने से रोकता है। मैंने अफगानिस्तान और इंडोनेशिया की बहुत-सी कविताओं और कहानियों का अनुवाद अँग्रेजी से हिन्दी में किया है। यह जान कर आश्चर्य होता है कि इन देशों की संस्कृति और सामाजिक परिवेश कितना कुछ हमसे मिलता-जुलता है, जीवन के समक्ष उपस्थित समस्याएँ एक-जैसी हैं, लेकिन हम अधिकांशत: इन देशों के साहित्य से अपरिचित हैं। यूरोप की भी कुछ भाषाओं को छोड़कर शेष के सम्बन्ध में यही स्थिति है। संस्थागत स्तर पर विभिन्न देशों की संस्थाओं से सम्पर्क, सम्बन्ध स्थापित कर के इस दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है लेकिन शायद हमारे संस्थानों में इसे महत्त्वपूर्ण काम नहीं माना जाता है।

अक्सर यह कहा जाता है कि डिजिटल माध्यमों के आने के पश्चात् पुस्तकों का पठन-पाठन कम हुआ है, लेकिन यह तथ्य पूर्णत: ठीक नहीं प्रतीत होता। दुनिया के जिन देशों में डिजिटल माध्यमों का प्रचार-प्रसार हमारी तुलना में बहुत अधिक है, वहाँ पुस्तकों की लाखों प्रतियों के संस्करणों का प्रकाशित होना और बिकना, इस तथ्य को झुठलाने के लिए पर्याप्त है। वस्तुत: हिन्दी में हम पुस्तक-संस्कृति विकसित कर पाने में पूर्णत: असफल रहे हैं। गिनती के घर होंगे जहाँ नियमित रूप से साहित्यिक पुस्तकें क्रय की जाती होंगी और नयी पीढ़ी को अच्छा साहित्य पढ़ने हेतु प्रोत्साहित किया जाता होगा। यह स्थिति सभी तरह के साहित्य, जिसमें अनूदित साहित्य भी है, को हतोत्साहित करने के लिए पर्याप्त है।

कुल मिलाकर यदि यह कहा जाये कि अनुवाद के समक्ष समस्या क्या है, यह कोई छिपी बात नहीं है तो अतिशयोक्ति न होगी। समस्या और इलाज सब जानते हैं, लेकिन इलाज करने को कोई तैयार नहीं है। सरकार की तमाम संस्थाएँ मठाधीशी और प्रशासनिक जड़ता का शिकार हैं और अधिकांश के पास कोई दृष्टि नहीं है। प्रकाशक सरकारी खरीद और कमीशन की दुनिया से बाहर निकलना नहीं चाहते और अच्छा साहित्य प्रकाशित करने और वितरित करने से अधिक अपने मुनाफे को किसी भी तरह बढ़ाने में रुचि रखते हैं। तमाम साहित्यिक जमावड़े उत्सवधर्मिता और व्यर्थ की लफ्फाजी का शिकार हो गये हैं। उनका कोई सृजनात्मक लाभ शायद ही कभी हुआ हो। अनुवादकों के लिए किसी मजबूत फोरम का अभाव है जहाँ उनकी समस्याएँ सुनी जा सकें और उनका निवारण किया जा सके। उन्हें आवश्यकता पड़ने पर संस्थागत सहयोग एवं सहायता दी जा सके। जब तक हम इन चुनौतियों से नहीं निबट लेते, अनुवाद की राह कठिन ही रहेगी।

आशा की जानी चाहिए कि यह स्थिति बदले और हमारा साहित्य और समृद्ध हो।

402/टी-5 सिविटेक फ्लोरेंसिया,
रामप्रस्थ ग्रीन्स, वैशाली, सेक्टर-7,
गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.)
मो. 8851054620

देशकाल

दो दिवसीय राष्ट्रीय समारोह
वनमाली कथा समय
वनमाली कथा पत्रिका का वार्षिक आयोजन

वनमाली वार्षिकी और नवलेखन अंक के दूसरे संस्करण का लोकार्पण:
बायें से कुणाल सिंह, डॉ. अदिति चतुर्वेदी वत्स, मुकेश वर्मा, विनोद तिवारी, ममता कालिया, संतोष चौबे, शिवमूर्ति, दिव्यप्रकाश दुबे और ज्योति रघुवंशी

वनमाली सृजनपीठ, आईसेक्ट पब्लिकेशन और रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में 'वनमाली कथा' के वार्षिक आयोजन 'वनमाली कथा-समय' का मंगलवार, 21 फरवरी को रवीन्द्रभवन में आगाज हुआ। कार्यक्रम के तहत पहले दिन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन किया गया जिसकीं शुरुआत 'पूर्वरंग' से हुई। पूर्वरंग की प्रस्तुति में अमित मलिक एवं नितेश मंगरोले द्वारा वायलिन-बाँसुरी की सांगीतिक जुगलबन्दी प्रस्तुत की गयी।

इस अवसर पर 'वनमाली वार्षिकी' और नवलेखन अंक के दूसरे संस्करण का लोकार्पण भी किया गया। इसके बाद वैचारिक सत्र की शुरुआत हुई में 'डिजिटल रीडिंग के वर्तमान परिदृश्य में पत्रिकाओं की स्थिति' पर परिचर्चा का आयोजन हुआ। इसमें वरिष्ठ साहित्यकारों में ममता कालिया, संतोष चौबे, शिवमूर्ति, विनोद तिवारी, मुकेश वर्मा, दिव्यप्रकाश दुबे, कुणाल सिंह मंचासीन रहे। इसके अलावा आईसेक्ट विश्वविद्यालय समूह की निदेशक अदिति चतुर्वेदी भी मौजूद रहीं।

दिव्यप्रकाश दुबे ने कहा कि लेखक लिख तब पाते हैं जब स्लोमोशन में अपनी कहानी को देख भी पाएँ। मैं लैपटॉप पर 10 मिनट से ज्यादा नहीं पढ़ पाता। हम डिजिटल और प्रिंट मीडियम को एक-दूसरे के कॉम्पीटिटर की तरह नहीं देखें, बल्कि एक-दूसरे को सहयोग करने वाला मानना चाहिए। और कोई भी मीडियम पूरी तरह से खत्म नहीं होगा। सभी की अपनी उपयोगिता अलग तरह से है। विनोद तिवारी ने कहा कि डिजिटल माध्यम में देर तक पढ़ना मुश्किल है, इसलिए प्रिंट की उपयोगिता पूरी तरह कभी खत्म नहीं होगी। मुकेश वर्मा ने कहा कि हम पहले टेक्नोलॉजी से विचलित होते हैं, फिर उसे गले लगाते हैं। टेक्नोलॉजी का दायरा बढ़ता ही जाएगा, इसे हमें स्वीकारना होगा। शिवमूर्ति ने कहा कि जब आपके पास कई विकल्प मौजूद हों तो जरूरत के हिसाब से उनका उपयोग करना चाहिए। ममता कालिया ने टेक्नोलॉजी पर बात करते हुए कहा कि तकनीक एकाएक न रहे तो डिजिटल का साहित्य पूरी तरह खत्म हो सकता है। ऐसे में किसी एक माध्यम पर हमें पूरी तरह निर्भर नहीं होना चाहिए। लेखन और पुस्तकों का आकर्षण आज भी है।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे संतोष चौबे ने अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में कहा कि तकनीक ने हमारी क्षमताओं

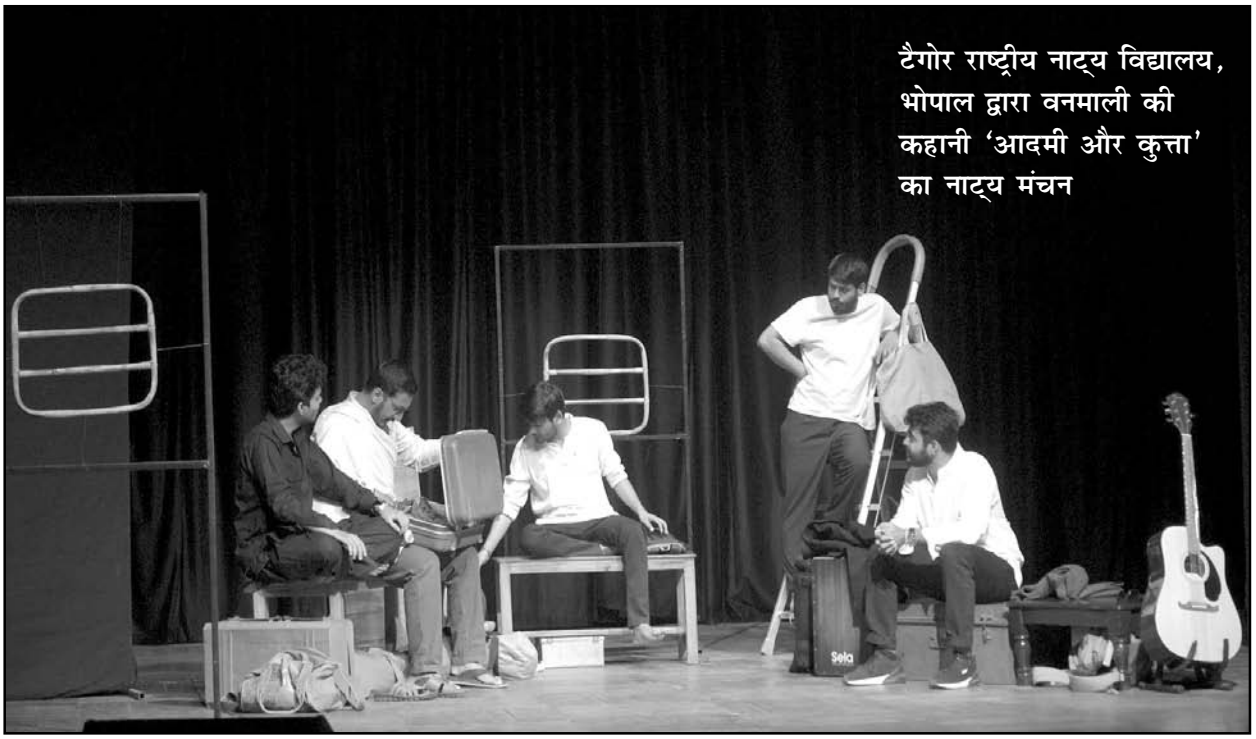

टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, भोपाल द्वारा वनमाली की कहानी 'आदमी और कुत्ता' का नाट्य मंचन

और पहुँच को बढ़ाया है। प्रिंट के अलावा अब इलेक्ट्रॉनिक और इंटरनेट पर ऑडियो-वीडियो माध्यम भी लोगों तक पहुँच रहे हैं। नयी पीढ़ी नयी तकनीक को अपनाती है और इस प्रकार आस्वाद का तरीका बदल जाता है। कार्यक्रम का संचालन 'वनमाली कथा' पत्रिका के सम्पादक कुणाल सिंह द्वारा किया गया।

कार्यक्रम की सांस्कृतिक प्रस्तुति में नाटक 'आदमी और कुत्ता' का मंचन शाम की सांस्कृतिक प्रस्तुति में टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा शैडो ग्रुप के सहयोग से वनमाली जी की कहानी 'आदमी और कुत्ता' की नाट्य प्रस्तुति दी गयी। मनोज नायर द्वारा निर्देशित यह नाटक जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' द्वारा लिखित है। जगन्नाथ प्रसाद चौबे नवमाली की यह कहानी मनुष्य के पशु के अन्तर को प्रस्तुत करता है। इंसान बने रहने की कोशिश, सदियों से मनुष्य सिर्फ स्वयं के ही नफे-नुकसान को देखता आ रहा है। कहानीकार वनमाली हिन्दी के कथा जगत के एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। विदित हो कि इस कहानी को आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी श्रेष्ठ के संकलन में स्थान दिया था।

वनमाली कथा-समय के दूसरे दिन की शुरुआत वनमाली नवलेखन कहानी-पाठ से हुई। रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय परिसर में हुए इस आयोजन में युवा रचनाकार अनुराग अनन्त, सबाहत आफरीन, कैफी हाशमी और मुदित श्रीवास्तव ने अपनी कहानियों का पाठ किया। विदित हो कि ये चारों कथाकार 'वनमाली नवलेखन अंक' से हिन्दी कथा-परिदृश्य में चर्चा में आये। अनुराग अनन्त ने 'त्रासदी का सिद्धान्त' का कहानी पाठ किया। इसमें उन्होंने कोरोना के समय की कहानियों के जीवन्त दृश्यों को पिरोया। कैफी हाशमी ने 'दुनिया का पहला और आखिरी सवाल' कहानी के जरिए दुनिया को बदलने की चाहत को रेखांकित किया। सबाहत आफरीन ने 'मुझे मंजूर नहीं' कहानी से अल्पसंख्यक समाज की पारिवारिक उलझनों को दर्शाते हुए उम्मीद की एक किरण दिखाई। मुदित श्रीवास्तव ने 'जिन्दा है अभी कासिद' का कहानी पाठ किया जो यथार्थ और फैंटेसी को बयाँ करती है। इस दौरान कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में दिव्यप्रकाश दुबे मौजूद रहे। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा कि ये कहानियाँ युवा मन की सोच को आगे लेकर बढ़ने का कार्य कर रही हैं और वाजिब सवालों को भी खड़ा कर रही

हैं। वहीं, कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहीं अल्पना मिश्र ने कहा कि इन नये कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से रचनात्मकता की एक नयी जमीन तैयार की है। समाहार वक्तव्य में संतोष चौबे ने कहा कि नये कहानीकारों ने अपनी कहानियों में भाषा का चयन बहुत ही सुन्दरता के साथ किया है। उनका सोंधापन अपने पाठकों को अपने मोहन में बाँध लेता है। मंच संचालन कुणाल सिंह ने एवं संयोजन ज्योति रघुवंशी ने किया।

शाम को रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के कुलाधिपति एवं कवि, कथाकार, उपन्यासकार संतोष चौबे एवं वनमाली कथा पत्रिका के प्रधान सम्पादक मुकेश वर्मा ने फीता काटकर पुस्तक एवं चित्र-प्रदर्शनी का शुभारम्भ किया। चित्र-प्रदर्शनी में वनमाली जी के जीवन एवं 'वनमाली कथा' के एक वर्ष के सफरनामे को चित्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया।

इसके बाद गौरांजनी सभागार में कहानी पाठ का आयोजन हुआ जिसमें वरिष्ठ साहित्यकार शिवमूर्ति, संतोष चौबे, मुकेश वर्मा और अल्पना मिश्र ने कहानी पाठ किया। इस दौरान अल्पना मिश्र ने कहानी 'लड्डू बाबू मरने वाले हैं' का पाठ किया। मुकेश वर्मा ने दो छोटी कहानियों का पाठ किया। इसके बाद संतोष चौबे ने कहानी 'रामकुमार के जीवन का एक दिन' का पाठ किया। इसमें उन्होंने एक जुझारू युवा सामाजिक कार्यकर्ता के जीवन के संघर्षों को बखूबी दर्शाया। शिवमूर्ति ने 'सिरी उपमा जोग' के पाठ के जरिए स्त्री-जीवन की पीड़ा को जीवन्तता के साथ प्रस्तुत किया। कार्यक्रम की मुख्य अतिथि ममता कालिया ने अपने वक्तव्य में कहा कि हम बहुत

आशान्वित हैं कि आने वाली पीढ़ी ज्यादा रचनात्मकता के साथ कहानियों का लेखन कर रही है। सत्र का संचालन अरुणेश शुक्ल ने किया।

समारोह की सांस्कृतिक गतिविधियों की कड़ी में शाम को दास्तानगोई का आयोजन हुआ। इसमें दास्तानगो हिमांशु वाजपेई और प्रज्ञा शर्मा ने दास्तान-ए-साहिर सुनाई। इसमें उन्होंने साहिर लुधियानवी के जीवन की दास्तान को रोचक अन्दाज में पेश किया। इसमें उनके जन्म से लेकर मृत्यु तक के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को उन्होंने सुनाया और जीवन चरित्र को सामने रखा। इसमें उनके कार्य और उपलब्धियों को भी विशेष रूप से रेखांकित किया गया जिसे श्रोताओं ने जमकर सराहा।

केरल में वनमाली सृजनकेन्द्र

साहित्य की विश्व दृष्टि में करुणा और प्रेम

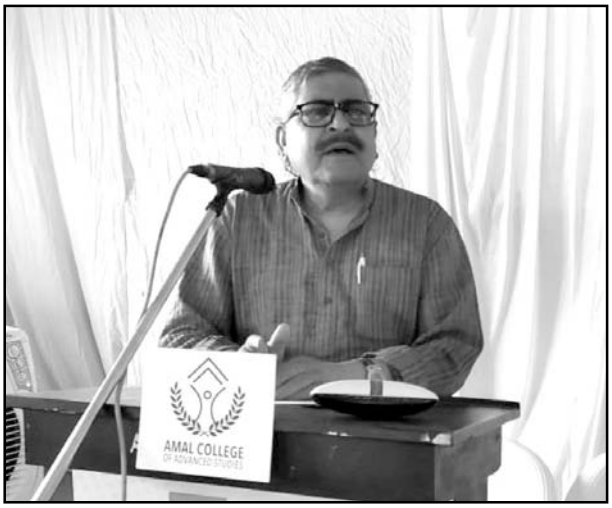

अमल कॉलेज ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, निलम्बूर केरल द्वारा 23-24-25 जनवरी को अमलिट-2 के तहत एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 'साहित्य और विश्वदृष्टि' विषय पर किया गया। अमलिट-2 का मेन थीम 'टूर्वड्स जीरो फॉर ॲ स्टनेबल टुमारो' था। अलग-अलग सत्रों में वक्ताओं ने अपनी बात रखी। रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय भोपाल इस संगोष्ठी के सह-आयोजकों में शामिल था।

संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में बीज वक्तव्य वरिष्ठ कहानीकार व वनमाली सृजनपीठ भोपाल के अध्यक्ष मुकेश वर्मा ने दिया। अपने विस्तृत वक्तव्य में मुकेश वर्मा ने विश्वदृष्टि निर्माण की राजनीति को रेखांकित करते हुए यह बताया कि साहित्य की विश्वदृष्टि किस तरह समाज में करुणा व प्रेम का प्रसार करने वाली होती है। रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल में हिन्दी के सहायक प्राध्यापक व अनुवाद केन्द्र के समन्वयक अरुणेश शुक्ल ने अपने वक्तव्य में साहित्य के विश्वदृष्टि की विशेषता को रेखांकित करते हुए कहा कि आज साहित्य की विश्वदृष्टि को निर्मित व नियन्त्रित करने की कोशिश सत्ता व बाजार कर रहा है। महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा में गाँधी एवं अहिंसा अध्ययन विभाग में सह-आचार्य व युवा कहानीकार राकेश मिश्र ने अपने विचारोत्तेजक वक्तव्य में हमारी केन्द्रित होती जा रही संवेदना व सिमटती विश्वदृष्टि पर बात की। गवर्नमेंट आर्ट्स एंड साइंस कॉलेज में सह-आचार्य प्रिया पी. ने मनोविश्लेषक के आधार पर विश्वदृष्टि में क्या बदलाव आये हैं, यह किस तरह की मानसिकता से नियन्त्रित हो रही है, इस पर विशद चर्चा की। सत्र की अध्यक्षता कालिकट विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य वी.के. सुब्रमंयम ने की। अपने अध्यक्षीय वक्तय में उन्होंने उत्तर-आधुनिकता के बहाने विश्वदृष्टि को रेखांकित किया।

इस अवसर पर वनमाली सृजनपीठ भोपाल के अध्यक्ष मुकेश वर्मा ने वनमाली सृजनकेन्द्र, अमल कॉलेज में खोलने की घोषणा की, जिसका संयोजक डॉ. शहला को बनाया गया। यह केन्द्र वनमाली सृजनपीठ की साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों का विस्तार केरल में करेगा। इसी क्रम में कालिकट में भी सृजन केन्द्र खोलने की चर्चा हुई।

प्रस्तुति : ज्योति रघुवंशी

अपने शहर-कस्बे की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की सचित्र (जेपीईजी फॉर्मेट में) रिपोर्टें प्रकाशनार्थ भेजें। ईमेल करें- vanmali@aisect.org, सब्जेक्ट में 'देशकाल के लिए' अवश्य लिखें।

अन्ततः

सत्कथा कही नहीं जाती

मुकेश वर्मा

मेरे दोस्त बहुत ज्यादा खुशकिस्मत हैं जिन्हें मुझ-सा दोस्त मिला। यह मैं नहीं कहता। मेरे दुश्मन कहते हैं। मन की गति निराली है। कभी-कभी दुश्मनों की बात भी श्रद्धापूर्वक मानने का मन बरबस होता है। हालाँकि मैं शर्तिया जानता हूँ कि ऐसा उन्होंने किसी आदर या सद्भाव में नहीं कहा होगा। निश्चित ही यह उपहास का कलात्मक तरीका है। जो सुनता है, उसे बार-बार मजा आता है। जो सुन नहीं पाया, बेकरार होकर सुनना चाहता है और जो सुन नहीं सका, उसे जिन्दगी भर इस करवट उस करवट चैन नहीं मिलता। इस मजे के भीतर जो रस है, उसके भीतर भी कुछ ऐसा है जो उस रस को जायकेदार बनाता है। इस मजे के तीखेपन को धार देती एक ऐसी चिलक झाँई मारती है जो विशुद्ध ईर्ष्या की कोख से पैदा होती है। धर्म, समाज, संस्कृति, साहित्य आदि-आदि सभी ईर्ष्या के खिलाफ लामबद्ध हैं। हर समय उसका निषेध करते हैं, लेकिन यह कैसे भुलाया जा सकता है कि मानव-सभ्यता के निर्माण की सनातन यात्रा में ईर्ष्या का उतना ही उल्लेखनीय अवदान रहा है जितना मनुष्य के अन्य किसी सत्कर्म या उपक्रम का।

ईष्या के मूल में प्रतिस्पर्धा है। जब किसी भी क्षेत्र में कौशल दिखाने का अवसर सायास या अनायास आता है, तब मनुष्य के मन में अपनी योग्यता के प्रदर्शन की स्वाभाविक इच्छा हिलोर मारती है। यह नैसर्गिक प्रवृत्ति है। गर्भ से ही वह अपने सर्वोत्तम को उसके सम्पूर्ण में व्यक्त करने को तत्पर रहता है। यह अभिव्यक्ति ही उसके व्यक्तित्व को पूर्ण, सार्थक और सन्तुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहती है, वरना आदमी और केंचुए में ऐसा और इतना विकासात्मक फर्क नहीं होता।

लेकिन इसके साथ ही और इससे सटा हुआ सच यह भी कि हर आदमी की योग्यता, प्रतिभा और कौशल का एक अदृश्य पैमाना होता है जिसके उच्चतम से ऊपर जाना, कुछेक अपवादों को छोड़कर, सम्भव और सामर्थ्य में नहीं हो पाता। इस स्थिति में देश और समाज के छोटे-बड़े सभी प्रकार के समूहों में विभिन्न व्यक्तियों के कौशल और निपुणता के प्रदर्शन से एक परिसीमा के भीतर ऊँचाई-निचाई का ग्राफ बनता रहता है। कोई ऊपर, तो कोई थोड़ा नीचे, तो कोई बहुत नीचे तो कोई बहुत ही ऊपर। कभी कैसा, कभी कुछ तो कभी कुछ भी नहीं। ऐसा भी बहुत-कुछ जो सोचा न गया हो, जो सोचा भी न जा सका हो। इस नाप-जोख, तोल-मोल में कोई आगे, कोई पीछे और कोई कहीं नहीं। लोगों ने इस खेल को कई नाम दिये हैं। कोई जीवन-संग्राम कहते हैं, कुछ संघर्ष, कुछ दुनिया और माया कहने वाले भी कम नहीं मिलते। कौन बड़ा और कौन छोटा, यह तकरार जारी रहती है। सवारों की गर्दनें कट जाती हैं और घोड़े घास चरते रहे और चरते आये। इतिहास के पन्ने-दर-पन्ने फालतू में फरफराते हैं, जबकि तहरीर सदा एक ही होती है। तूफान भले ही चला जाये, लेकिन शोर किसी दम कम नहीं होता। अब चाहे जो कहा जाये, लेकिन हमेशा का सच यही है कि हमेशा के इस समुद्र-मन्थन से अमृत कम और

इस मजे के तीखेपन को धार देती एक ऐसी चिलक झाँई मारती है जो विशुद्ध ईर्ष्या की कोख से पैदा होती है। धर्म, समाज, संस्कृति, साहित्य आदि-आदि सभी ईर्ष्या के खिलाफ लामबद्ध हैं। हर समय उसका निषेध करते हैं, लेकिन यह कैसे भुलाया जा सकता है कि मानव-सभ्यता के निर्माण की सनातन यात्रा में ईर्ष्या का उतना ही उल्लेखनीय अवदान रहा है जितना मनुष्य के अन्य किसी सत्कर्म या उपक्रम का।

अवसाद ज्यादा निकलता है। अवसाद की आँच से ईर्ष्या के काढ़े का जन्म हुआ है। यह प्रवृत्ति उतनी और उसी तरह नैसर्गिक है जैसे प्रेम, दया, करुणा जिन्हें मानवता के व्यापक कल्याण में अमृत कहकर शिरोधार्य किया गया है या घृणा, क्रोध और भय आदि जिन्हें अनिष्टकारी माना जाकर अवांछित ठहराया गया। ईर्ष्या में अमृत और जहर दोनों का समावेश होना माना गया, इसीलिए प्रत्येक संस्कृति के मूल्यों में कमोबेश ईर्ष्या को एकदम या एकतरफा निन्दित या त्याज्य नहीं किया गया, बल्कि उसे सकारात्मक रूप देने पर जोर दिया गया। 'स्पोर्टमेन स्पिरिट' या खेल-भावना को इसी आधार पर उसके सगुण रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

ईर्ष्या का आदिम रूप तब सामने आता है जब उसमें अहंकार, क्रोध, शत्रुता और हीनता की भावना भरपूर शामिल हो जाती है। यदि इसे क्रमवार देखा जाये तो पहले हीनता की भावना, फिर अहंकार पर चोट, फिर क्रोध का उबाल और अन्त में शत्रुता की क्रूरता आती है। ईर्ष्या की चिंगारी का उग्रतम और अन्तिम रूप युद्ध की आग में रूपान्तरित होता है। दुनिया में हुए प्रत्येक युद्ध के मूल कारणों में ईर्ष्या को प्रमुखता से देखा गया है। यह लोक की स्मृतियों और श्रुतियों का निचोड़ है जिसके आगे इतिहास पानी भरता है।

लेकिन इसे दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक एक ऐसी गुत्थी के तौर पर पाते हैं जो प्राकृतिक न्याय और मानव-स्वभाव की कसौटियों पर सुलझती नहीं वरन् और अधिक उलझती है। जहाँ खेल-भावना में ईर्ष्या को तब्दील किये जाने का आग्रह किया जाता है, वह प्रक्रिया स्वाभाविक नहीं होती, क्योंकि उसे उन तमाम कारकों का शमन करना होगा जो ईर्ष्या के साथ मूलत: और जन्मना संलग्न हैं, इस तरह वे भी नैसर्गिक भावनाएँ ही हैं। यहाँ तर्क के रूप में यह प्रश्न खड़ा होता है कि नैसर्गिक भावनाओं का शमन प्रकृति-विरुद्ध नहीं होगा क्या? प्रकृति-सापेक्ष जीवन ही श्रेष्ठ मानव-जीवन माना गया है तो प्रकृति के खिलाफ जाने पर मनुष्य के जीवन में अस्वाभाविक और अनुचित असन्तुलन उत्पन्न नहीं होगा क्या?

यहाँ तर्क यह पुष्ट कर देता है कि ईर्ष्या की भावना निरन्तर नैसर्गिक, सहज, मानवोचित और सभ्यता की विकास-यात्रा में आवश्यक और लगभग अनिवार्य घटक है। इसलिए यदि दुश्मन ईर्ष्यालु होता है तो वह उसके विकास का एक वांछित आधार और स्वस्थ लक्षण है। दुश्मन की ईर्ष्या का सम्मान होना चाहिए। यह सामाजिकता और सामुदायिक जीवन का तकाजा भी है। ईर्ष्या को खेल-भावना में तब्दील किये जाने की कार्यवाही अप्राकृतिक है। इस प्रकार ऐसी खेल-भावना ही प्रकृति-विरुद्ध है। इस तथ्य को भरसक दबाने या छुपाने की कोशिश की जाती रही है। हर धर्म, समाज, संस्कृति और साहित्य ने इस भाव से बचने और इसके विरोध तथा अस्वीकार में लगातार आवाजें उठाई हैं, लेकिन अन्तर्विरोध और विरोधाभास ऐसा कि एक धर्म दूसरे धर्म और एक समाज दूसरे समाज के प्रति ईर्ष्याग्रस्त होता चला गया। विभिन्न संस्कृतियों, समुदायों, राजनीति, व्यापार, साहित्य, कलाओं और उनके कर्णधारों से लेकर उनके अनुयायियों में ईर्ष्या समान रूप से प्रज्वलित है। पद, पैसा, पावर और प्रतिष्ठा के रोमांचक खेल में यह आग तल्लीनता से जल रही है। महायुद्धों की विभीषिकाओं को झेलने के बाद भी एक नये युद्ध की आशंका से इंकार नहीं किया जा सकता है।

आग जल रही है। आग जलती रहेगी। यदि उसे पानी से बुझाया जा सकता तो दुनिया में कहीं भी आग का नामोनिशान नहीं होता। वहाँ पानी भी क्या कर पाता है जहाँ समुद्र के पेट में बड़वानल धधक रहा हो। इस खेल को क्या कहिये जहाँ पानी भीतर आग है और आग भीतर पानी। इसे ही लीला कहा गया है, तो ऐसे में किसी दुश्मन की ईर्ष्या का बुरा क्या और क्यों मानना! इस नजरिये से दुश्मन की ईर्ष्या और दोस्त की मोहब्बत के बीच में फर्क ही नहीं दिखेगा, क्योंकि कोई फर्क ही नहीं है, क्योंकि दोनों की प्रवृत्ति और प्रकृति स्वाभाविक और नैसर्गिक है, क्योंकि जैसे हम हैं, वैसे वे सब हैं और जब कहीं कोई फर्क ही न रहा तो कोई गिला, शिकवा, शिकायत भी न रही।

मोहब्बत में नहीं है फर्क जीने और मरने का,
कि जिसको देखकर जीते, उसी काफिर पे दम निकले।

मो. 9425014166

वनमाली कथा

लोकतान्त्रिक मूल्यों की समावेशी पत्रिका

12 अंकों से
चुनी हुई रचनाओं का
वृहद संचयन

वनमाली वार्षिकी

(फरवरी–2023 में प्रकाशित)

शमूलियत

ममता कालिया, प्रियंवद, गीतांजलि श्री, उषाकिरण खान,
संतोष चौबे, जितेन्द्र श्रीवास्तव, मुकेश वर्मा, बलराम गुमास्ता,
धीरेन्द्र अस्थाना, शैलेन्द्र सागर, बोधिसत्व, हेमन्त कुकरेती, निरंजन श्रोत्रिय,
मनोज रूपड़ा, जया जादवानी, ओमा शर्मा, कैलाश बनवासी, बसन्त त्रिपाठी,
नीलाक्षी सिंह, पंकज मित्र, मो. आरिफ, नीलेश रघुवंशी, गीत चतुर्वेदी,
अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ, शम्पा शाह, विनोद शाही, अशोक भौमिक,
चन्दन पांडेय, मनोजकुमार पांडेय, राकेश मिश्र, कबीर संजय,
पंकज सुबीर, उमाशंकर चौधरी, आशुतोष, बाबुषा कोहली

एवं अन्य

मूल्य : 500 रुपये (डाकखर्च सहित)

अपनी प्रति सुरक्षित करने के लिए 9893100979 पर व्हाट्सऐप करें

आईसेक्ट पब्लिकेशन

फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, नई दिल्ली द्वारा
एक्सेलेंस इन बुक प्रोडक्शन के
6 पुरस्कारों से सम्मानित प्रकाशन

ज्ञान-विज्ञान, कौशल विकास तथा
कला-साहित्य पर हिंदी, अंग्रेजी एवं
अन्य भाषाओं में पुस्तकों और पत्रिकाओं का राष्ट्रीय प्रकाशन

स्व-प्रकाशन योजना

हिंदी भाषा, साहित्य एवं विज्ञान की विभिन्न विधाओं में पुस्तकों के प्रकाशन में आने वाली कठिनाइयों को देखते हुए आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल ने लेखकों के लिए स्व-प्रकाशन योजना एक अनूठे उपक्रम के रूप में शुरू की है।

जिन रचनाकारों को अपनी मौलिक, अनूदित, संपादित रचनाओं का पुस्तक रूप में प्रकाशन करवाना है, पांडुलिपि की सॉफ्ट कॉपी के साथ आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल से संपर्क करें।

आईसेक्ट पब्लिकेशन से पुस्तक प्रकाशन के लाभ ही लाभ

- प्रकाशित पुस्तक आईसेक्ट पब्लिकेशन की पुस्तक सूची में शामिल की जायेगी।
- पुस्तक, बिक्री के लिये सुप्रसिद्ध स्टॉलों एवं मेलों आदि में उपलब्ध रहेगी।
- प्रकाशित पुस्तक की समीक्षा सुप्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया जायेगा।
- प्रकाशित पुस्तक, शहरों व कस्बों में स्थापित वनमाली सृजनपीठ के सृजन केन्द्रों में पठन-पाठन और चर्चा के लिए भिजवाई जायेगी।
- पुस्तक के लोकार्पण और साहित्यिक मंच पर संवाद-चर्चा आदि की व्यवस्था की जा सकेगी।
- पुस्तक चयनित ई-पोर्टल (अमेज़न, आईसेक्ट ऑनलॉइन आदि) पर भी बिक्री के लिये प्रदर्शित की जायेगी।

विशेष : शोध पर आधारित पुस्तकों के प्रकाशन में अग्रणी संस्थान
(विश्वविद्यालयों के फैकल्टी एवं छात्रों के लिये विशेष स्कीम)

सुरुचिपूर्ण फोर कलर प्रिंटिंग ● आकर्षक गेटअप ● नयनाभिराम पेपर बैक में

कुल बिक्री के आधार पर वर्ष में एक बार नियमानुसार रॉयल्टी भी

पांडुलिपि किसी भी विधा में स्वीकार

आप स्वयं पधारें या संपर्क करें

- प्रकाशन अधिकारी, आईसेक्ट पब्लिकेशन : मो.+91-8818883165
- अधयक्ष, वनमाली सृजनपीठ : मो.+91-9425014166
  ई-7/22 अरेरा कॉलोनी, भोपाल-16 फोन- 0755-4851056
- E-mail : mahip@aisect.org, aisectpublications@aisect.org

www.rntu.ac.in

RNTU

Rabindranath TAGORE UNIVERSITY™
MADHYA PRADESH, BHOPAL

#futureready

Your dependable partner in your career development.

For over a decade, we have been preparing our students to become the leaders of the future. We offer not only quality education and a holistic development but, a platform where one gets an NEP aligned curriculum with different skill courses while making them industry ready along with developing their communication and personality, to become **#futureready!**

Featuring

- India's First Skill University
- 20 Centres of Excellence
- 52-Acre Green Campus; World-class Infrastructure
- International and Corporate Partnerships
- 56 Start-ups Incubated under AIC (NITI Aayog)
- Shiksha Mitra Scholarship on Merit

Courses Offered

Engineering & Technology | Humanities & Liberal Arts
Law | Management | Agriculture | Commerce | Science
Computer Science & IT | Nursing & Paramedical Science
Education | Bachelor of Vocational | Master of Vocational
Ph.D. in selected subjects through separate entrance tests

Integrated courses in association with

AISECT Future Skills Academy · N·S·D·C National Skill Development Corporation · Red Hat · coursera · Micro Focus · Hewlett Packard Enterprise · BOSCH · DAIKIN

Start-up Incubation Centre

AIC-RNTU

Honoured for hard work

- Rank Band 101-150 in Universities — nirf 2021
- Ranked 186 in Engineering — nirf 2021
- 1st Ranked Private University 2021 in Bhopal — INDIA TODAY
- 1st Ranked Private University in Madhya Pradesh 2021 — Outlook

ZEE Education Excellence Award 2020

Best Physio Excellence University Award 2022

World Education Award 2016 (Dubai)

Madhya Pradesh Gaurav Samman 2019

More than 500 companies for placements and internships (Offering upto 15 LPA)

paytm · KUNI · hitech · IFFCO KISAN · Tech Mahindra · TATA Consultancy Services · Us · HCL · WIPRO · genpact · Netlink

Want to unlock your potential?

Rabindranath Tagore University: Bhopal– Chiklod Road, Near Bangrasia Chouraha, Bhopal, Madhya Pradesh, India
City Office: 3rd Floor, Sarnath Complex, Opposite to Board Office, Link Road No. 1, Shivaji Nagar, Bhopal– 462016 | **Email: info@rntu.ac.in**

Call us:
+91-755-2700400, 2700413
+91-755-4289606

ADMISSIONS OPEN